मनोविज्ञान

सम्पादकीय

हिन्दी में मनोविज्ञान—

मनोविज्ञान आज के युग का एक बड़ा महत्वपूर्ण विषय है। बालकों की शिक्षा, उनका लालन-पालन और समाज के आपस के व्योहार तथा समाज-शासन, सभी के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता है। ऐसे उपयोगी विषय के व्यापक ज्ञान-प्रसार के लिये यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रीय भाषा में लिखा जाय। अब यह विषय हमारी इन्टर-मीडियेट कक्षाओं में पढ़ाया जाने लगा है। अँग्रेजी में लिखी हुई मनोविज्ञान की पुस्तकें इन्टरमीडियेट के विद्यार्थियों के समझ के बाहर की चीज हैं, इसीलिये उन पुस्तकों को हिन्दी में लिखने की आवश्यकता है। जब यह विषय अँग्रेजी के माध्यम से पढ़ाया जाता था, तब बहुत थोड़े से विद्यार्थी उसे लेते थे। जब से यह हिन्दी में पढ़ाया जाने लगा और हिन्दी में पुस्तकों की रचनाएँ हुई, तब से इसे हजारों विद्यार्थी पढ़ने लगे।

मनोविज्ञान का एक बहुत ही अच्छा उपयोग मानसिक चिकित्सा में होता है। आधुनिक काल में मनोविश्लेषण चिकित्सा-विधि से बहुत से मानसिक रोगी अच्छे हो रहे हैं। किसी व्यक्ति के मनोविश्लेषण के लिये यह आवश्यक है कि उसके बचपन के संस्कार उसकी स्मृति-पटल पर लाये जायँ। ये संस्कार मातृ-भाषा के द्वारा ही लाये जा सकते हैं। अतएव सारा मनोविश्लेषण का कार्य मातृ-भाषा के द्वारा ही किया जाना आवश्यक है। जिन मनोविश्लेषकों को उस देश की भाषा का ज्ञान नहीं रहता, जहाँ के लोगों की वे चिकित्सा करते हैं, वे वहाँ अपने कार्य में सफल नहीं होते।

भिन्न-भिन्न देश में अचेतन मन के भाव व्यक्त करने के भिन्न-भिन्न तरीके भी होते हैं, जो वहाँ की भाषा से सम्बन्ध रखते हैं। स्वप्नों का अर्थ ठीक से लगाने के लिये किसी भी देश की संस्कृति और वहाँ की भाषा जानना नितांत आवश्यक है।

वर्तमान समयमें बहुत सी विलायती कंपनियाँ भारतवर्ष में प्रचलित अपनी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करा रही हैं। इस प्रकार का अनुवाद कभी-कभी मूल पुस्तक से अधिक क्लिष्ट हो जाता है। अनुवादक का मुख्य लक्ष्य मिलने-वाला पैसा ही होता है। मनोविज्ञान के विकास के लिये आवश्यक है कि उस विषय के जानकार व्यक्ति देश-सेवा की दृष्टि से हिन्दी-भाषा में ही पुस्तकें लिखें। पुस्तक-लेखक का हेतु पुस्तक को जनता के लिये उपकारी अथवा व्यर्थ बनने में बहुत कुछ काम करती है।

हमने १५० वर्ष तक अँग्रेजी भाषा इसी लक्ष्य से पढ़ी कि हम उसके द्वारा कुछ पैसा कमा सकें। अतएव पुस्तक लिखते समय भी हमारा उद्देश्य बड़े अधिकारी को खुस करना ज्यादा होता था, वनिस्पत जनता के लाभ के। यही कारण है कि डेढ़ सौ वर्ष में हिन्दुस्तानियों की इनी-गिनी पुस्तकें अँग्रेजी में निकल पाईं। जब इसी बुद्धिसे हम हिन्दीमें भी पुस्तक लिखते हैं, तब वे निकम्मी ही सिद्ध होती हैं। जैसे-जैसे राष्ट्र में हिन्दी का प्रेम बढ़ेगा, इस ओर मनोविज्ञान के सच्चे पण्डित और समाजसेवक खिचेंगे। इस कार्य में न केवल जनता की वरन् सरकार के पूरी सहयोग की आवश्यकता है।

मनोविज्ञान है क्या?—

मनोविज्ञान संसार की सबसे प्राचीन और नवीनतम विद्या है। प्राचीन मनोविज्ञान का उद्देश्य स्वयं के मन को समझना था। बिना अपने मन को जाने हम उसे अपने बस में नहीं कर सकते। जो मनोविज्ञान की बातें अपने मन को बस में करने के हेतु जानी जाती हैं, उसे हम आध्यात्म विद्या कहते हैं। उस प्रकार की विद्या की भारतवर्ष में पर्याप्त उन्नति हुई थी। पश्चिम में भी उस प्रकार की विद्या का विकास हुआ। परन्तु उस प्रकार का मनोविज्ञान मनुष्य की नैतिक उन्नति में सहायक नहीं होता। यह मनोविज्ञान मनुष्य को परम पुरुषार्थ अर्थात् अपने आप पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताता है। आधुनिक युग में जिस विद्या का विकास हुआ है, वह बाहरी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की विद्या है। इस प्रकार की विद्या को साइन्स अथवा विज्ञान कहा जाता है। वर्तमान काल में मनोविज्ञान की गणना भी विज्ञान में होती है। जिस प्रकार विज्ञान के दूसरे अंग बाहरी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सहायक होते हैं, उसी प्रकार आज मनोविज्ञान भी हमें बाहरी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सहायता देती है। यह बाहरी प्रकृति जड़ पदार्थों की न होकर चेतन पदार्थों की होती है— अर्थात् मनोविज्ञान द्वारा हम मानव-स्वभाव को अधिकाधिक जानते हैं और फिर उसे विशेष ओर मोड़ सकते हैं। जिस प्रकार एक बनस्पति शास्त्र का ज्ञाता पेड़-

पौधों के विकास को एक लक्ष्य की ओर ले जा सकता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान का ज्ञाता मानव जाति को विशेष ओर मोड़ने में समर्थ होता है।

यह मनोविज्ञान का एक नया ही रूप है। अब अधिकतर पुराने मनोविज्ञान को व्यर्थ समझा जाने लगा है और नये मनोविज्ञान का सर्वतोमुखी प्रसार हो रहा है। पहले मनोविज्ञान को दार्शनिक मनोविज्ञान अथवा अन्तर्मुखी मनोविज्ञान कहा जाता था और आधुनिक मनोविज्ञान को वस्तुवादी मनोविज्ञान अथवा बहिर्मुखी मनोविज्ञान कहा जाता है। वस्तुवादी मनोविज्ञान मनुष्य को उसी प्रकार शक्ति संपन्न कर देता है, जिस प्रकार विज्ञान के दूसरे अंग उसे शक्तिसंपन्न करते हैं। इस शक्ति का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विज्ञापन अथवा प्रचार मनोविज्ञान के द्वारा किसी भी भली अथवा बुरी बात का अच्छी तरह से जनता में प्रचार किया जा सकता है और व्यापार मनोविज्ञान के द्वारा व्यापार में सफलता प्राप्त कर ली जा सकती है। प्रत्येक राजनीतिज्ञ को जनता को संमोहित करने के लिये अथवा दूसरे राष्ट्र के नेताओं पर अपना प्रभाव जमाने के लिये सामूहिक और राजनैतिक मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है। आज अमेरिका और रूस न केवल अपने शस्त्र बल के कारण वरन् अपनी मनोवैज्ञानिक कुशलता के कारण ही दूसरे राष्ट्रों पर अपना प्रभाव जमाये हुए हैं। किन्हीं-किन्हीं राष्ट्रों के बीच सामरिक युद्ध होने के पूर्व मनोवैज्ञानिक कुशलता का युद्ध होता है। जो राष्ट्र जितना ही अधिक मनोविज्ञान में प्रवीण होता है, वह उतने ही देर तक युद्ध को चला सकता है, दूसरे निष्पक्ष राष्ट्रों को अपनी ओर मोड़ सकता है और अन्त में विजयी होता है। पिछले महायुद्ध में अँग्रेज और जर्मन के राजनीतिज्ञों की मनोवैज्ञानिक कुशलता ने ही एक पक्ष को विजय और दूसरे को पराजय प्रदान की।

आज दुनियाँ के गम्भीरतम चिन्तक इस बात को पहचानने में लगे हैं कि संभवतः मनुष्य के मस्तिष्क का सदुपयोग नहीं हो रहा है। मनुष्य के स्वभाव को सुधारनेवाली एकमात्र विद्या मनोविज्ञान का भी दुरुपयोग अब उसी प्रकार होने लगा है, जिस प्रकार अन्य विद्याओं का। मनुष्य की सभी विद्याओं का भौतिक उन्नति में उपयोग होना अन्त में उसे अहितकारी सिद्ध होता है। इसलिये ही संसार के कुछ प्रमुख मनोवैज्ञानिक यह बता रहे हैं कि मनोविज्ञान का सर्वोच्च लक्ष्य मानव शक्ति को वाह्य जगत में प्रसार करना नहीं, वरन् आत्मविजय है। वर्तमान काल में अनेक प्रकार के मानसिक रोग संसार में फैल रहे हैं, तथा अनेक प्रकार की अपराध की भावनायें भी मानव समाज में घर कर गई हैं। संसार के बड़े-बड़े युद्धों की तैयारी इन्हीं कारणों से हो रही है। हम सभी शांति

मनुष्य की नैतिकता का आधार

इमैनुअल कांट के अनुसार मनुष्य की नैतिकता का आधार उसके अन्तरात्मा की आवाज है। मनुष्य की अन्तरात्मा उसे प्रत्येक गलती के लिये कोसती है। जो व्यक्ति जितना ही उसकी इस अन्तरात्मा की आवाज को सुनता है, उसे उसकी आवाज उतनी ही स्पष्ट सुनाई देती है। अन्तरात्मा के आवाज की अवहेलना करने पर यह मन्द अवश्य हो जाती है, परन्तु चुप नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य में यह शक्ति जन्म से ही आती है। और अनुभव के साथ-साथ विकसित होती जाती है। इमैनुअल. कांट ने अन्तरात्मा की आवाज को ही उसके संपूर्ण दर्शन की आधार शिला बना दिया है।

मनुष्य की अन्तरात्मा न केवल उसे सच्चे मार्ग का निर्देशण करती है, वरन् बुरे काम के लिये दण्ड भी देती है। जो व्यक्ति अन्तरात्मा की आवाज को सुनकर किसी भी बुरे काम का प्रायश्चित स्वयं ही कर लेता है, उसे बाहरी दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती। जब मनुष्य ऐसा प्रायश्चित नहीं करता, तब उसे प्रकृति अथवा समाज बाहरी दण्ड देता है। प्राकृतिक दण्ड शारीरिक, मानसिक तथा दुर्घटनाओं के रूप में होता है और सामाजिक दण्ड समाज बहिष्कार और राजकीय दण्ड के रूप में मिलता है। दण्ड मनुष्य का कल्याण करता है। इससे उसके मन की शुद्धि होती है और पाप की प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। अतएव सभी प्रकार का दण्ड मनुष्य का हितैषी है। दण्ड पाये बिना मनुष्य की सद्बुद्धि जाग्रत नहीं होती और उसमें अन्तरात्मा की आवाज सुनने की शक्ति नहीं होती।

डा० फ्रायड ने कांट महाशय के उपर्युक्त सिद्धांत का खण्डन किया है। डा० फ्रायड के अनुसार मनुष्य की नैतिक बुद्धि जन्मजात नहीं अपितु संस्कार-

---

चाहते हैं। परन्तु जब तक उक्त कारण मानव जीवन में वर्तमान है, तब तक युद्ध का टलना सम्भव नहीं। मनोविज्ञान का सर्वोच्च लक्ष्य यही हो सकता है कि वह मनुष्य को स्वस्थ्य और शान्त तथा परोपकारी बनाने में सहायता दे। मनोविज्ञान का यह स्वरूप अनाकर्षक भले ही हों, परन्तु मानव-समाज के लिये मंगलदायक है। जैसे-जैसे मनोविज्ञान की वृद्धि होगी, तैसे-तैसे मनुष्य व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से सुखी बनेगा। वर्तमान भारतीय मनोविज्ञान का यही लक्ष्य है।

जन्य है। जिस मनुष्य को जैसे वातावरण में रक्खा जाता है, वह वैसी ही नैतिकता प्राप्त कर लेता है। मनुष्य के नैतिक संस्कार उसके चेतन मन से अचेतन मन में चले जाते हैं। यही संस्कार मनुष्य की अन्तरात्मा को आवाज बन जाते हैं। इसे मनुष्य कभी-कभी सुनता है और कभी-कभी नहीं। वह उतनी दूर तक अन्तरात्मा की आवाज को सुनता है, जहाँ तक उसके नैतिकता-सम्बन्धी संस्कार उसके चेतन मन को ज्ञात रहते हैं; जब ये संस्कार उसके अचेतन मन में ही रहते हैं, तब व्यक्ति को उसके अन्तरात्मा की आवाज का ज्ञान नहीं होता। परन्तु ये संस्कार—अर्थात् मनुष्य का सुसत्व (सुपर ईगो) उसके प्रत्येक काम का नियंत्रण करते हैं। मनुष्य (Super Ego) का सुसत्व उसके अनजाने ही उसकी भोग इच्छाओं से लड़ता रहता है। इसके कारण मनुष्य की सभी भोग इच्छायें सीधे नहीं प्रगट हो पाती, वे दमित हो जाती हैं और फिर वे अपना रूप बदलकर उसके सांकेतिक चेष्टाओं में, भूलों में, स्वप्नों में और मानसिक रोगों में प्रकट होती हैं। यदि मनुष्य को सुसत्व हुआ ही नहीं, तो उसे मानसिक रोग क्या होगा? परन्तु ऐसा व्यक्ति समाज की अनेक बुराइयाँ करेगा, अपराध से रोकने के लिये उसे बाहरी दण्ड के अतिरिक्त और कुछ भी न रह जायेगा।

डा० फ्रायड के अनुसार मनुष्य को नैतिकता का पहला ज्ञान अपने पिता से होता है। पिता बच्चे की भोग लिप्सा का दमन करता है। पिता का कार्य बाद को, दूसरे आयु में बड़े लोग, शिक्षक, तथा समाज करने लगते हैं। जो कार्य बचपन में पिता और समाज करते हैं, वही कार्य बड़े होने पर बालक स्वयं ही करने लगता है। वह अपने भीतर एक पिता का अनुभव करता है, जिसके नियन्त्रण में उसे रहना पड़ता है। जब कभी इस भीतरी पिता के प्रतिकूल कोई प्रौढ़ व्यक्ति आचरण करता है, तब उसे दैविक दण्ड का उसी प्रकार भय होता है, जिस प्रकार उसे बचपन में बाहरी पिता के दण्ड का भय रहता था। उस भीतरी पिता से हर समय व्यक्ति उसी प्रकार डरते रहता है, जिस प्रकार बचपन में वह बाहरी पिता से डरते रहता था। मनुष्य की नैतिकता का आधार यही सुसत्व के दंड का भय है।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसके अन्तरात्मा से आई हुई वस्तु नहीं, वरन् बाहर से लादी हुई वस्तु है। यही कारण है कि मनुष्य के जन्म-जात भोग इच्छाओं और बाहर से लादी नैतिक बुद्धि से व्यक्ति के जाने और अनजाने संघर्ष होता है। मानसिक रोगों का कारण यही संघर्ष होता है। मानसिक रोग की समाप्ति के लिये मनुष्य के भोग इच्छाओं और उसके नैतिक

स्वत्व में समन्वय स्थापित करना पड़ता है। इसके लिये उसके नैतिक स्वत्व की कठोरता कम करनी पड़ती है और भोगात्मक स्वत्व के प्रकाशन के लिये ऐसे मार्ग निकालने पड़ते हैं, जिससे कि समाज की हानि हुए विना भीतर की इच्छाएँ तृप्ति पा लें। दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण करना उनमें से एक है।

डा० फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का नैतिक स्वत्व उसका शत्रु है। वह जितना ही बड़ा हो उतना ही बुरा है। मनुष्य का नैतिक स्वत्व उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार का उसका पिता। पिता बच्चे की भोग इच्छा का दमन करता है; इसीलिये बच्चे के मन में पिता के प्रति स्वाभाविक घृणा रहती है। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपने नैतिक बुद्धि के प्रति स्वाभाविक घृणा रहती है। प्रत्येक मनुष्य का जन्मजात स्वभाव सुखवादी होता है। और उसे समाज मार-पीट कर समाज में रहने योग्य बनाता है। समाज द्वारा दमित होने के कारण जो इच्छायें अतृप्त रह जाती हैं, वे ही रोग बन जाती हैं। इस प्रकार इस दर्शन में समाज भी व्यक्ति का शत्रु ही है। उसका ही दंड-विधान मनुष्य के नैतिकता का आधार बनता है।

डा० फ्रायड के सिद्धान्त को यदि हम सत्य मानें, तो नैतिकता की अवहेलना से पाप का अनुभव करना एक प्रकार की मूर्खता ही है। जो लोग जितने ही सख्त पिता के नियन्त्रण में बचपन में रहते हैं, वे उतनी ही ज्यादा पिता की अवहेलना करते हैं। ऐसे ही लोगों को अधिक मानसिक रोग होते हैं। नैतिकता में अधिक श्रद्धा रखनेवाले लोग डा० फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार उसमें सफल नहीं हो सकते। नैतिकता के साथ किसी आध्यात्मिक तत्व का जोड़ना इस सिद्धान्त में निरी मूर्खता है। योग्य नैतिकता वह है, जिससे मनुष्य बिना दूसरों को कष्ट पहुँचाये अपनी भोगेच्छाओं की अधिक-से-अधिक तृप्ति कर सकता है। दूसरों को कष्ट इसलिये ही नहीं पहुँचाना चाहिये कि वे भी हमको बदले में कष्ट ही देंगे। डा० फ्रायड के मत में कुशल नैतिक व्यक्ति व्योहार कुशल होता है। देवी-देवता, ईश्वर, अन्तरात्मा आदि के विचार नैतिकता के साथ जोड़ना अज्ञान का परिचायक है। जो लोग जितनी ही नैतिकता की कम चिन्ता करते हैं, उन्हें उतने ही कम मानसिक रोग होते हैं। उक्त सिद्धान्त के अनुसार किसी कुकृत्य के लिये अन्तरात्मा द्वारा दंडित होना सम्भव नहीं। अन्तरात्मा के दंडस्वरूप न तो मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक रोग हो सकता है और न कोई दुर्घटना ही हो सकती है। यदि मनुष्य को शारीरिक और मानसिक रोग होता है, तो वह उसकी भोगेच्छाओं के अवरुद्ध होने से होता है। इसी के कारण दुर्घटनाएँ भी होती हैं।

डा० फ्रायड का यह सिद्धान्त मानवमात्र के लिये अकल्याणकारी है। यह इच्छाओं के नियन्त्रण में किसी प्रकार की महानता न देखकर उसे एक प्रकार का बाह्य कार्य मानता है। डा० फ्रायड का कथन है कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, मानसिक रोगों की वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि सभ्यता सुख की सामग्री बढ़ाकर मनुष्य की इच्छाओं की वृद्धि करती है और जब ये इच्छायें अतृप्ति रहती हैं, तो मानसिक रोग होते हैं; वरन् सभ्यता मनुष्य को अपनी इच्छाओं का दमन करना ही सिखाती है, इसीलिये ही उसे मानसिक रोग होते हैं। तब क्या यदि मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी इच्छाओं की तृप्ति करे, तो भला होगा? डा० फ्रायड द्वारा इसका उत्तर भी निराशाजनक है। इससे अपराधों की वृद्धि होगी। इस तरह डा० फ्रायड के सुखवादी सिद्धान्त का अन्त निराशावाद में होता है।

संसार के प्रमुख चिन्तकों के अनुसार मनुष्य को शारीरिक व मानसिक दुःख इसलिये नहीं होता कि वे अपनी इच्छाओं को स्वच्छन्दतापूर्वक तृप्त करते हैं—वरन् उन्हें दुःख इसलिये होता है कि वे अपनी इच्छाओं पर उचित नियन्त्रण नहीं रखते। इच्छाओं की तृप्ति की प्रेरणा प्राकृतिक रूप से मनुष्य में होती ही है। उन पर नियंत्रण करने के लिये ही उसे यत्न करना पड़ता है, इसी में उसका पुरुषार्थ है। मनुष्य इच्छाओं के नियन्त्रण में ही अपनी महानता को देखता है। यदि इच्छाओं के नियन्त्रण का भाव समाज द्वारा ही लादा गया होता, तो मनुष्य इसमें अपनी महानता को क्यों देखता? डा० फ्रायड के अनुसार मनुष्य अपनी नैतिक बुद्धि को शत्रु-दृष्टि से देखता है। यदि यह बात सही है, तो वह नैतिक आचरण करनेवाले व्यक्तियों को महान आदर की दृष्टि से देखने के बदले उनसे घृणा ही करेगा। यह बात सही है कि डा० फ्रायड के सिद्धान्त को जिन लोगों ने मान लिया है, वे नैतिक आचरण करनेवाले लोगों में महानता न देखकर उन्हें एक प्रकार का मूर्ख ही समझते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। यदि समाज में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक हो जाय, तो समाज की क्या दशा हो जायगी, यह विचारणीय वस्तु है।

डा० फ्रायड के उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध डा० युंग ने मानवस्वभाव की कल्पना की है। उनके कथनानुसार मनुष्य का जन्मजात स्वभाव नैतिक है और उसके अन्तरात्मा से ही उसे परोपकार करने की प्रेरणा होती है। जब मनुष्य अपने इस गंभीरतम स्वत्व की अवहेलना करता है, तभी उसको मानसिक रोग, शारीरिक रोग तथा दुर्घटनायें होती हैं। मानसिक रोग उसकी दमित भोगेच्छाओं

को व्यक्त करने के साधनमात्र नहीं हैं, तो वे मनुष्य को सत्पथ पर चलाने के—अर्थात् नैतिक बनाने के नैसर्गिक उपाय हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा उसे सदा भला बनने की प्रेरणा देती है। मनुष्य का पिता, उसके संबन्धी, शिक्षक तथा समाज इस ओर प्रगति में सहायक होते हैं। ये सब उसके देव-दत्त सहायक हैं, उसके विकास के विरोधी नहीं। मनुष्य का सहज विकास और उसके जीवन का लक्ष्य भोगेच्छाओं की तृप्ति में न होकर उनके उचित नियन्त्रण में है। मनुष्य का रोग उसका मित्र है, जो उसे आत्मनियन्त्रण में सहायता देता है। यदि किसी मनुष्य में आत्मनियन्त्रण की स्वयं क्षमता है, तो उसे रोग की आवश्यकता नहीं होती।

युंग के कथनानुसार, मनुष्य के स्वप्न, केवल उसकी भोग-वासना को व्यक्त करने के छिपे मार्ग नहीं हैं, वरन् स्वप्न मनुष्य के अन्तरात्मा द्वारा निर्मित होते हैं। वे उसके सामने ऐसी बातें प्रतीक रूप से लाते हैं, जिनकी स्वीकृति वह अभिमान वश न करेगा। वे भविष्य के प्रति उसको आगाह करते हैं। वे उसके अभिमान को घटाते हैं और अपना कर्तव्य पहचानने में सहायक होते हैं। जो मनुष्य अपने स्वप्नों के प्रति दृष्टि रखता है, वह बहुत सी दुर्घटनाओं से बच जाता है। स्वप्नों का अर्थ कोई बनी बनाई डिक्शनरी के द्वारा नहीं बताया जा सकता। जब तक मनुष्य के जीवन-धारा को ठीक से नहीं समझा जाता, उसके विशेष स्वप्न का अर्थ ठीक से नहीं लगाया जा सकता। कोई भी स्वप्न प्रयोजन हीन नहीं होता। उसका उद्देश्य केवल दमित इच्छा का प्रकाशन मात्र नहीं है, वरन् मानव जीवन में सुधार करना होता है। उसका वही प्रयोजन होता है, जो रोग का। इसीलिये ही वह रोग के समाप्त करने में सहायक होता है। दोनों ही आत्मज्ञान प्राप्ति और आत्मनियन्त्रण के साधक हैं। इसी में मनुष्य अपनी पूर्णता की अनुभूति करता है। यही कारण है कि हम संयमी पुरुष को आदर की दृष्टि से देखते हैं और भोग-विलास में पड़े व्यक्ति को हेय दृष्टि से देखते हैं। नैतिकता मनुष्य में निहित पूर्णता का लोक में व्यक्तिकरण है। मनुष्य नैतिक बनकर आत्मा की पूर्णता का साक्षात्कार करता है।

काशी मनोविज्ञानशाला का कार्यविवरण

काशी मनोविज्ञानशाला आज ७ वर्ष से समाज की सेवा कर रही है। मनोविज्ञानशाला के संस्थापक वे ही व्यक्ति हैं, जिन्होंने बालशिक्षा समिति को आज के १५ वर्ष पूर्व बनाया था। बालशिक्षा समिति 'सुखी बालक' नाम का पत्र कई साल तक निकलती रही। इसके बाद यह समिति मनोविज्ञान साहित्य-समिति में परिणति हो गई। इस समिति की पहले पहल सचल बैठकें हुआ करती थीं। इस समिति के सदस्य दूसरे सदस्यों को अपने घर पर बुलाते और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर बात होती। साल भर तक इसी प्रकार विचार गोष्ठी होती रही। इसके बाद कुछ सज्जनों के—विशेषकर हमारे आज के मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द के प्रोत्साहन से मनोविज्ञानशाला की स्थापना २६ नवम्बर १९५१ को हुई। इसका उद्घाटन डा० सम्पूर्णानन्दजी द्वारा ही हुआ।

मनोविज्ञानशाला के मुख्य कार्य तीन हैं—(१) मानसिक रोगों की चिकित्सा (२) मनोवैज्ञानिक गोष्ठी। (३) और मनोवैज्ञानिक साहित्य का निर्माण। मनोविज्ञानशाला में मानसिक रोगों की चिकित्सा एक नये ढंग से ही होती है। इसमें भगवान बुद्ध के बताये हुए मैत्रीभावना का अभ्यास और मानसिक शैथिलीकरण की प्राप्ति के लिये आनापानसति का अभ्यास कराया जाता है। मैत्री भावना के अभ्यास के दो अंग हैं। (१) अपने से बाहर व्यक्तियों तथा परिस्थितियों के प्रति मैत्री-भाव का स्थापित करना (२) अपने व्यक्तित्व में उपस्थित अनेक तत्वों के प्रति मैत्री-भाव स्थापित करना। मानसिक रोगी पहले तो अपने ही प्रति अनुदार होता है। वह कठोरता से स्वयं का दमन करता है। फिर उसका यह दमित और उपेक्षित सत्व बाहरी व्यक्तियों और परिस्थितियों पर आरोपित हो जाता है। वह अपने आपको प्रतिकूल परिस्थितियों और मनुष्यों से घिरा हुआ पाने लगता है। इस प्रकार वह अपने कमजोरियों के लिये अपने आपको न कोसकर, बाहरी जगत को कोसता है। जो व्यक्ति मैत्रीभाव से रहित है, वह न तो अपने आप पर विजय प्राप्त कर सकता है और न बाहरी जगत पर, ऐसा व्यक्ति मानसिक रोगी बनकर अपने निकम्मेपन के लिये मिथ्या आत्मसंतोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

उक्त प्रकार के मैत्रीभाव के स्थापन के लिये अपने व्यक्तित्व का ज्ञान करना नितान्त आवश्यक है। बिना आत्मज्ञान के—अर्थात् मन की वासनाओं के जाने

बिना आत्ममैत्री असंभव है। और जो व्यक्ति अपना ही मित्र नहीं है वह दूसरों का मित्र नहीं हो सकता। रोगी को आत्मज्ञान कराने के लिये उसका मनोविश्लेषण करना आवश्यक होता है। इसके लिये उसकी जीवनी, स्वप्न, उसकी रुचियाँ, चेष्टाएँ, भूलें और कार्यकलाप अध्ययन किये जाते हैं। इस कार्य में हम पाश्चात्य मनोविज्ञान की खोजों से सहायता लेते हैं।

मनसोपचार के समय रोगी को अपने जीवन की अनेक ऐसी घटनाएँ स्मरण कराई जाती है, जिन्हें वह भूल चुका है; परन्तु जिनके संस्कार उसके अचेतन मन में वर्तमान रहते हैं। इन संस्कारों को डा० फ्रायड ने दमित स्मृतियाँ कहा है। इन दमित स्मृतियों के चेतना के सतह पर आने से ही बहुत से रोगों की समाप्ति हो जाती है। परन्तु इन संस्कारों को चेतना के स्तर पर लाना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसके लिये रोगी की पुनः शिक्षा करनी पड़ती है। रोगी की नैतिक धारणायें इतनी जटिल होती हैं कि उनके कारण वह अपनी न्यायोचित वासनाओं का भी दमन करते रहता है। उसके मन में अनेक तथाकथित 'पाप सम्बन्धी' निरर्थक भय भी रहते हैं, इन सबको चेतना के स्तर पर लाकर समाप्त किया जाता है। पुनः शिक्षा दमित भावों के रेचन के लिये तथा दमित उपयोगी मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण के लिये आवश्यक है।

दमित स्मृतियों को चेतना के स्तर पर लाने में रोगी के स्वप्न बड़े ही सहायक होते हैं। वे न केवल रोगी के दमित भाव का रेचन करते हैं, वरन् उसे सत्पथ का प्रदर्शन भी करते हैं। शाला में रोगी व्यक्तियों से इस प्रकार के सैकड़ों स्वप्न लिखाये जाते हैं। स्वप्न के बाद के विचारोंको भी लिखाया जाता है। इन स्वप्नों के अर्थ को रोगी को बताया जाता है और अर्थ बताते समय उसे अपने पुराने संस्कारों को स्मरण कराया जाता है इस प्रकार रोगी की जीवनी तथा स्वप्न-स्मरण कराते-कराते रोगी का रोग अनायास ही समाप्त हो जाता है।

मानसिक चिकित्सा का दूसरा अंग आनापानसति का अभ्यास है। इस अभ्यास में रोगी को आराम से बिस्तर पर लिटा दिया जाता है और उसे शान्त-भाव का अभ्यास करने की सलाह दी जाती है। यह शान्त भाव श्वांस-प्रश्वांस पर ध्यान देने से सरलता से आ जाता है। इस अभ्यास को करते समय कभी-कभी रोगी अचानक ही अनेक प्रकार की शारीरिक चेष्टाएँ अपने अर्द्धचेतन अवस्था में करने लगता है। वह कभी-कभी रोता, गाता, सिर कूटता अथवा उछल कूद करने लगता है। इस तरह उसका दबा हुआ मनोविकार चेतना के स्तर पर आ जाता है। जो रोगी जितना ही अधिक इन चेष्टाओं को करता है,

वह उतना ही अधिक लाभान्वित होता है। किसी-किसी रोगी को इस अवस्था में विलक्षण-कल्पना चित्र दिखाई देते हैं। रोगी फिर इन बातों को चिकित्सक को बतलाता है। इस तरह कुछ समय में उसका रोग शांत हो जाता है। बहुत से रोगी इस अभ्यास को करते समय सो जाते हैं।

डा० विलियम ब्राउन ने अपने ही ढंग से इस अभ्यास को हजारों मानसिक रोगियों से कराया और इससे उन्हें आरोग्य बनाया। जटिल बालकों के सुधार में भी यह अभ्यास बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। डा० हेरोल्डफिंक ने भी शांतभावना के अभ्यास को मानसिक रोग के समाप्ति के लिये उपयोगी बतलाया है। उनकी चिकित्साप्रणाली में शारीरिक शैथिलीकरण पर अधिक जोर दिया गया है।

जब रोगी स्वास्थ लाभ करने लगता है, तो उसे आत्म-विश्लेषण करनेके लिये प्रोत्साहित किया जाता है। उसे अपनी भावनाओं को चेतना तथा निरपेक्ष रूप से उन्हें देखने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार रोगी अपने भावों का दमन न कर उन्हें साक्षी भाव से देखता है और इस प्रकार उनका अन्त हो जाता है। यह योग में बताया साक्षी भाव का अभ्यास। इस प्रकार हमारी चिकित्सा प्रणाली मूलतः भारतीय ऋषियों की शिक्षा पर आधारित है।

मनोविज्ञानशाला के चिकित्सा प्रणाली की विशेषता कोई विशेष प्रकार की चिकित्सा पद्धति में नहीं है, वरन् इसके विशेष दर्शन में है। मनोविज्ञान-शाला का आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त मानव-स्वभाव को जन्म से ही भला मानना है। मानव-स्वभाव में जितने तत्व हैं, सब भले हैं और उनका न्योयोचित उपयोग होने से वे भले बने रहते हैं। किसी भी अंग की अवहेलना होने से वे व्यक्तित्व को असंतुलित कर उसे दुखी बना देते हैं। रोग इस असंतुलन को मिटाने के हेतु आता है। रोग रोगी का सच्चा मित्र है, जो उसे शत्रु के रूप में दिखाई देता है। जब रोगी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह रोग को द्वेष भाव से नहीं देखता और उसकी अनिवार्यता जान लेता है फिर उसका रोग भी समाप्त हो जाता है। प्रत्येक रोगी में आरोग्य प्राप्ति की स्वयं प्रेरणा होती है। किसी प्रकार की चिकित्सा-प्रणाली उसकी सहायता मात्र कर सकती है। समय के पूर्व किसी भी रोगी को आरोग्य बनाना असम्भव है। रोगी के अचेतन मन से सहयोग करके ही रोगी को लाभ पहुँचाया जा सकता है, क्योंकि वही उसको रोग देता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूप से भला है, इसलिये ही वह रोग द्वारा बुराई को निकालते रहता है। इस विचार को मन में लाने से हम रोगी को प्यार कर सकते हैं और उसमें विश्वास करके स्वयं रोगी का

आत्मविश्वास बढ़ाते हैं। अतएव इस चिकित्सा प्रणाली का एक आधार तत्व व्यापक मैत्रीभाव की अनुभूति है।

मनोविज्ञानशाला मानव जीवन को भार रूप न मानकर पूर्णता-प्राप्ति का साधन मानती है। मनुष्य को अपनी वासनाओं को जानकर उनकी तृप्तिका न्यायोचित मार्ग खोजना चाहिये। उसकी अनैतिक वासनायें तो चेतनाके स्तर पर आते ही समाप्त हो जाती है और बाकी की तृप्ति के लिये उसे उचित पुरुषार्थ करना पड़ता है। मानव जीवन की सफलता वासनाओं के दमन में नहीं, वरन् उनके उदात्तीकरण में है।

मनोविज्ञानशाला का उपर्युक्त दर्शन, मनोविज्ञानशाला द्वारा प्रकाशित पुस्तकों, मासिक पत्रिका 'मनोविज्ञान' और शाला की गोष्ठियों द्वारा प्रचालित किया जाता है। मनोविज्ञानशाला में संस्थापन के दिवस से आज दिन तक प्रति रविवार को मनोविज्ञान-जिज्ञासुओं की एक सभा होती है और उसमें अनेक मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता है। यह गोष्ठियाँ मानसिक रोगियों के लिये विशेषकर लाभदायक होती हैं। यह एक प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा की कक्षा है, जिसमें बाल मनोविज्ञान, समाज मनोविज्ञान, व्यवहारिक मनोविज्ञान, असाधारण मनोविज्ञान, चिकित्सा मनोविज्ञान पर विद्वानों के प्रवचन होते हैं।

मनोविज्ञान के व्यापक प्रचार के लिये 'मनोविज्ञान' नाम की पत्रिका 'शाला' से निकाली जाती है। यह पत्रिका मनोविज्ञान के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालती है। इसके संरक्षक हमारे मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्दजी हैं। यह समाज सेवकों के लिये उपयोगी सिद्ध हुई है। समाज सुधार के और कार्यों में लगी हुई संस्थाएँ इसे खरीदती हैं। उत्तरप्रदेश की सरकार अपने शिक्षा संस्थाओं के लिये भी इस पत्रिका को लेती है।

पत्रिका के अतिरिक्त मनोविज्ञानशाला ने जनता के लाभार्थ मनोविज्ञान और आरोग्य, नई मानसिक चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा के प्रयोग, मनोविज्ञान चिन्तामणि और मनोविज्ञान संजीवनी तथा मेन्टल इन्टीग्रेशन नामक पुस्तक भी प्रकाशित की हैं। मनोविज्ञान साहित्य प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य हिन्दी भाषा-भाषी जनता में मनोविज्ञान का ज्ञान बढ़ाना है। शाला द्वारा प्रवर्तित मनोविज्ञान में पाश्चात्य और प्राचीन भारत के विद्वानों के विचारों का समन्वय रहता है।

हाल ही में मनोविज्ञानशाला की एक नये दिशा में वृद्धि हुई है। अब यहाँ पर प्रतिदिन मनोवैज्ञानिक परामर्श लेनेवाले व्यक्तियों के अतिरिक्त स्थाई रूप से कुछ समय तक रहनेवाले व्यक्ति भी आते हैं। गत ६ माह से इनकी

संख्या ४, ५ के लगभग रहती है। यह कभी-कभी दस तक पहुँच जाती है। जनता और सरकार की कृपा से अब मनोविज्ञानशाला के पास अपना एक मकान हो गया है। जिसमें आकर मानसिक रोगी कुछ काल के लिये ठहरते हैं और शाला द्वारा बताये गये अभ्यास को करके आरोग्य लाभ प्राप्त करते हैं। अब इस 'शाला' ने एक आश्रम का रूप ले लिया है। जिस प्रकार पुराने गांधी-आश्रम में नित्यप्रति प्रार्थना, प्रवचन और अध्ययन तथा हाथ के काम होते थे, उसी प्रकार मनोविज्ञानशाला में भी इसी तरह के कार्य होते हैं। यहाँ पर दिनका प्रारम्भ गीता अथवा धम्मपद के पाठ से होता है और उसका अन्त मनोवैज्ञानिक चर्चा और अभ्यास से। शाला में कोई नौकर नहीं रहता। यहाँ सभी स्वयंसेवक हैं, और सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा उद्देश्य भगवान बुद्ध के बताये हुए विहार के जीवन को पुनर्जीवित करना है। मनोविज्ञानशाला ने कुछ जटिल बालकों को भी उन्हें यहाँ ठहराकर उपचार किया है। इसके परिणाम-स्वरूप 'शाला' को आर्थिक लाभ भी हुआ है। मनोविज्ञानशाला के सहायक प्रायः सभी ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें मनोविज्ञानशाला की सेवा से कुछ-न-कुछ लाभ हुआ है। हमारे एक विद्यार्थी ने मनोविज्ञानशाला की एक पुस्तक को छापने के लिये पूरा खर्चा दिया है। कुछ ने मनोविज्ञान शाला के कमरों के निर्माण के लिये विशेष दान दिया है।

इस साल हमें मनोविज्ञानशाला का कमरा बनाने के लिये जिन मित्रों ने सहायता की उनमें वैद्यनाथ आयुर्वेद भवनके संचालक श्रीरामनारायणजी वैद्य और काशीके एक प्रतिष्ठित व्यापारी श्रीव्रजमोहन केजरीवालाजीके नाम विशेष उल्लेख-नीय हैं। हमें दोनों स्थानोंसे इस कार्यके लिये विशेष दान मिला है। जबसे संस्था की स्थापना हुई है, तब से आज दिन तक दोनों व्यक्तियोंसे हमें न केवल आर्थिक सहायता ही मिलती रही, वरन् अपने कार्य को बढ़ाने के लिये उचित परामर्श और प्रोत्साहन भी मिलता रहा है। हमारे कुछ विद्यार्थी अपने खर्चे में विशेष प्रकार की कटौती करके मनोविज्ञानशाला की सहायता, इसके संस्थापन के दिवस से लेकर आज दिन तक करते रहे हैं। इनमें से श्रीप्रणवीरसिंह चौधरी विशेष हैं।

सरकार और नगरपालिका द्वारा मनोविज्ञानशालाको प्रतिवर्ष आर्थिक सहायता मिलती आई है। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि हमारे नगरके ही एक प्रमुख नागरिक मा० कमलापति त्रिपाठी हमारे प्रान्त के शिक्षा मंत्री हैं। उन्होंने प्रारम्भ से ही मनोविज्ञानशाला के कार्य में रुचि दिखाई है। इस वर्ष उनके आदेश से शिक्षाविभाग द्वारा जो मनोविज्ञानशाला को जो अनुदान मिला उसके लिये हम उनके विशेष आभारी हैं। इसके कारण मनो-

विज्ञानशाला न केवल जनता की सेवा का सामान्य कार्य कर सकी, वरन् उसके लिये एक कमरा भी तैयार कर सकी है। 'शाला' में एक आश्रम-व्यवस्था का निर्माण भी इन्हीं की कृपा का परिणाम है।

नगर पालिका के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष श्री मोतीचन्द्र शर्मा 'शाला' की उन्नति में विशेष रुचि रखते हैं। उनके कारण 'शाला' के कार्यों का व्यापक प्रसार हो सका और 'शाला' के वार्षिक जलसे उनकी सहायता से रोचक और सफल बन सके। नगरपालिका का यह विभाग हमारी अनेक तरहसे सहायता करती रही है।

मनोविज्ञानशाला की शिक्षाप्रणाली की विशेषता—मनोविज्ञानशाला की शिक्षाप्रणाली प्राचीन गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली है। गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली की विशेषता गुरुशिष्य का व्यक्तिगत संपर्क है। गुरु शिष्यों को सामूहिक रूप से पाठ तो पढ़ाता ही था, वह अपने एक-एक शिष्य की व्यक्तिगत विशेषताओं की जानकारी करता, उनके पुराने जीवन की बातों को जानता तथा उनकी रुचि-योग्यता के अनुसार भावी जीवन के लिये पथ-निर्देशन करता था। इसके लिये प्रत्येक शिष्य से अलग बात-चीत करनी पड़ती थी। इस बात-चीत से गुरु को शिष्य की न केवल कमजोरियों का वरन् उनकी खूबियों का भी पता चल जाता था। कुशल, सहृदय गुरु का यह काम होता था कि शिष्य में झूठा अभिमान न आने दे और उसमें आत्महीनता की भावना को भी घर न करने दे। अपने दुष्कर्मों के छिपाने की मनोवृत्ति से मनुष्य में अभिमान आता है और अपनी कमजोरियों का अधिक चिन्तन करने से आत्महीनता की भावना बढ़ती है। इन दोनों बातों का निराकरण गुरु के समक्ष अपना हृदय खोलने तथा उनसे व्यक्तिगत बात-चीत करने से हो जाती है।

अपने अतीत काल के जीवन में घटित अवांछनीय बातों को अपने श्रद्धेय व्यक्ति से कह देने से एक ओर मनुष्य के अभिमान का निराकरण होता है और दूसरी ओर वह अपने पाप-भाव से भी मुक्त हो जाता है। मनुष्य को छिपा पाप ही लगता है, खुला पाप नहीं लगता, परन्तु गुरु केवल सामान्य मनोविश्लेषक नहीं है। गुरु शिष्य को अपनी विस्मृत शक्ति को याद कराता है, उसमें नया आत्मविश्वास पैदा करता है और इस प्रकार उसमें रचनात्मक कार्य की क्षमता बढ़ाता है।

इस कार्य के लिये शिष्य से प्रतिदिन व्यक्तिगत रूप से बात-चीत करना नितांत आवश्यक होता है। जिन लोगों को स्थाई सहायता की आवश्यकता होती है, उन्हें आश्रम में ठहरना आवश्यक होता है। मनोविज्ञानशाला में इन दोनों प्रकार से विद्यार्थियों की शिक्षा होती है। हमारे पास प्रतिदिन उत्तर भारत ही

नहीं वरन् सुदूर दक्षिण प्रान्तों से जिज्ञासुओं के पत्र आते हैं। उनका तुरन्त उत्तर देना नितांत आवश्यक होता है। फिर भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों से अपनी कामियों और जिज्ञासाओं को लेकर भिन्न-भिन्न प्रान्त के लोग आते हैं, उनका उत्तर देना हमें नितांत आवश्यक होता है। शाला का उद्देश्य भारत के नवयुवकों को अन्धविश्वास से मुक्त कर सत्पथगामी बनाना है।

कुछ उत्साही नवयुवकशाला में आकर ही आश्रम जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें से कुछ एक पक्ष, कुछ एक - दो महीने और कुछ ४-६ महीने ठहरते हैं। यहाँ पर उन्हें नियमित जीवन रहने का और रचनात्मक काम करने का अभ्यास कराया जाता है तथा 'शाला' की साधनाओं द्वारा इनके रोग की समाप्ति की जाती है शाला से लाभ पानेवाले व्यक्ति भारतके प्राय: सभी प्रान्तके हैं। इनमें पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहारके विशेष है। कुछ लोग नेपाल, आसाम, बंबई, आन्ध्र-प्रदेश के भी आते हैं अथवा पत्र-व्यवहार द्वारा परामर्श पाते हैं। पत्रिका के द्वारा ही हमारा इन लोगों से सम्पर्क होता है और बना रहता है।

मनोविज्ञानशाला द्वारा उपचारित निम्नांकित मानसिक रोग है—हठी विचार, हिस्टीरिया, मूर्छा, हकलाहट, अकारण भय, चिन्ता, दाम्पत्य सन्देह, नपुंसकता, हैपोकेन्ड्रिया, न्यूरेसथेनिया, सिरकी पोड़ा (मेग्रेन), हृदयकी धड़कन, प्रमेह, स्वप्नदोष और भयावने स्वप्न।

प्रबन्ध-समिति-सदस्य

१. श्री डा० राजबली पाण्डेय—सभापति
२. ,, राजाराम शास्त्री—उपसभापति
३. ,, लालजी राम शुक्ल—मन्त्री
४. ,, प्रणवीरसिंह चौधरी—सहायक मंत्री
५. श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६. ,, मोतीचन्द्र शर्मा
७. ,, व्रिज मोहन केजरीवाल
८. ,, अनिरुद्ध कुमार रस्तोगी
९. ,, रामकृष्ण गोयल
१०. ,, रतनचन्द्र सलोत्रा
११. ,, रमापति शुक्ल

काशी मनोविज्ञानशाला का आय-व्यय

१९५७–५८ ई०

आय		व्यय	
सं० न० पै०		सं० न० पै०	
१३–१३	गतवर्ष का रोकड़ बाकी	२४५२–२९	मकान बनवाई
१२२६–०	पत्रिका बिक्री	१३४–५२	पोस्टआफिस
८२०–०	दान	११५२–४	पत्रिका
२०००–०	सरकार से सहायता	७२०–०	तनख्वाह
३००–०	नगरपालिका से सहायता	५८–५१	फरनीचर
३००–०	सदस्यता शुल्क	१७१–७५	वार्षिकोत्सव
१४०–०	कर्ज द्वारा कमी पूर्ति	१००–९२	अन्य खर्च
		६–०	इस वर्ष का जमा
४७९९–१३		४७९९–१३	

लालजी राम शुक्ल
मन्त्री
काशी मनोविज्ञानशाला, वाराणसी



बूँद-बूँद जल मिलकर सागर अगम अथाह कहाता है।
कण-कण धूल जमा होने से एक ढेर लग जाता है।
तिनका-तिनका मिल जाता तो छप्पर छा जाता है।
एक-एक डग चलते-चलते एक कोस आ जाता है।
अगर बड़ा बनना है तुमको तो मन में विश्वास धरो।
इसी समय से ध्यान लगा कर थोड़ा-थोड़ा काम करो।

मनोवैज्ञानिक समस्याएँ

व्यभिचार की मनोवृत्ति से कैसे मुक्त हों ?

एक नवयुवक लिखता है कि—'मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध व्यभिचार में पड़ जाता हूँ। यह व्यभिचार काल्पनिक और शारीरिक दोनों प्रकार का होता है। शारीरिक व्यभिचार प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों प्रकार के होते हैं। मैं इनके बुरे परिणामों को जानता हूँ, परन्तु अपने आपको इनसे रोकने में असमर्थ हूँ। मुझे उपाय बतलाइये।'

उपर्युक्त समस्या हमारे नवयुवकों की सर्वोपरि मानसिक समस्या है। परन्तु सबके लिए इसका एक सा ही हल नहीं हो सकता। यहाँ मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति की दुर्बलता देखता है और इस दुर्बलता का सजीव चित्रण करके इसे और भी दुर्बल बना देता है। इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता उन लोगों में आती है जिन्हें बचपन में उचित स्नेह न मिलने के कारण आत्महीनता के भाव उत्पन्न हो गया है और जो हीनता को छिपाने के लिये कठोर नैतिकता को अपने ऊपर लाद देते हैं। यह कृतिम नैतिकता एक ओर उन्हें विशेष व्यक्ति बनने की प्रेरणा देती है और दूसरी ओर वह उनमें आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति उत्पन्न करती है। इस प्रकार की मनोस्थिति का अन्त करने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

(१) किसी भी ऐसे कार्य में अपने आपको लगा देना जिसमें दूसरों का और अपना कल्याण हो। जब मनुष्य की संचित शक्ति रचनात्मक कार्य में लग जाती है,तब वह ध्वंसात्मक कार्यसे अपने आपही अलग हो जाता है। रचनात्मक कार्य करने से मनुष्य को जो आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है वह उसकी आत्म-हीनता की मनोवृत्ति को समाप्त करता है और उसमें आत्मनियंत्रण की शक्ति उत्पन्न करता है। मनुष्य की आत्म-नियंत्रण की प्रगति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। क्रिया का नियन्त्रण करना विचारों को नियंत्रण करने से अधिक सरल है और विचारों का नियंत्रण भावों के नियन्त्रण से। किसी भी क्रिया को सफल बनाने के लिए मनुष्य में जो अपने आपमें नियन्त्रण करने का अभ्यास आ जाता है, वह अभ्यास आत्मनियंत्रण करने के काम में आता है। जो लोग वाह्य संसार के कार्यों में असफल रहे हैं वे अन्तर्जगत में भी असफल ही रहते हैं। पलायन-वाद मनुष्य को न तो लौकिक जीवन में सफल बनाता है और न अध्यात्मिक जीवन में।

(२) अपनी असफलता पर विचार ही नहीं करना चाहिये। असफलता की कल्पना असफलता की जननी होती है और सफलता की कल्पना सफलता की। ऐसे किसी भी संकल्प को मनुष्य को करना ही नहीं चाहिए जिसके सफल होने में उसे सन्देह हो। इसके लिए अपने जीवन के आदर्श उतने ही ऊँचे बनाये जायँ जितने हमारी पहुँच के भीतर हों।

(३) किसी व्यक्ति के चरित्र की आलोचना न कर उसके गुणों की खोज करनी चाहिये। दूसरे की चरित्रकी आलोचना से वे ही दुर्गुण हममें आ जाते हैं। आलोचक का अभिमान बढ़ा-चढ़ा रहता है। यह अभिमान ही आत्म-भर्त्सना की मनोस्थिति उत्पन्न करता है। जब हम दूसरे की बुराइयों को क्षम्य मान लेते हैं तो हमारी आत्मा अपने बुराइयों के लिये हमें नहीं कोसती।

(४) व्यभिचार करना बुरा है, परन्तु उससे बुरा अपने आपको कोसना है। इससे व्यभिचार की प्रवृत्ति कम न होकर और प्रबल हो उठती है। अपने आप-को कोसने से मन को नियंत्रण करने की शक्ति घट जाती है और हम उसी काम को और भी अधिक करते हैं जिसके लिये हम अपने आपको कोसते हैं।

(५) कभी-कभी अपने वातावरण को बदल देने से मनुष्य को पर्याप्त लाभ होता है। नए वातावरण में जाने पर मनुष्य में नया उत्साह आता है और वातावरण के परिवर्तन से मन में भी विशेष प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। जो लोग माता-पिता की अधिक देख-रेख में रहते हैं, उन्हें बोर्डिंग में रख देने पर आत्म-विश्वास की वृद्धि हो जाती है और बहुत सी बातें अपने आप छूट जाती हैं।

(६) कामवासना और प्रेम एक ही वस्तु के दो रूप हैं। काम का शोधित रूप प्रेम है और प्रेम का अशुद्ध और तामसिक रूप काम है। अतएव जब मनुष्य के जीवन में जैसे-जैसे शुद्ध प्रेम की वृद्धि होती है वैसे वैसे कामुकता की भावनाएँ और विचार अपने आप नियंत्रण में आ जाते हैं। बच्चों का लालन-पालन रोगियों की सेवा, पीड़ित व्यक्तियों की सहायता, बालकों की शिक्षा, ये सभी प्रेम प्रकाशन के शुद्ध मार्ग हैं। जो व्यक्ति अपने आपको इन कार्यों में लगा देता है उसे कामुकता की जड़ताओं के बन्धन में नहीं आना पड़ता।

(७) कामशक्ति का सर्वथा उदात्तीकरण करना आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सम्भव नहीं है। सम्भवत: लोकहितार्थ यह आवश्यक भी नहीं। यदि काम शक्ति को समयानुकूल उचित मार्गों से प्रकाशित होनेका अवसर मिले तो मनुष्य में अनैतिक आचरण की प्रवृत्ति प्रबल ही न हो; अतएव अवस्था के अनुसार कामशक्ति के प्रकाशन का उचित मार्ग भी निश्चित करना आवश्यक है। जिस

प्रकार मनुष्य के जीवन के लिए भोजन आवश्यक है उसी प्रकार समाज के जीवन के लिये काम व्यवहार भी आवश्यक है। इसके उचित ढंग से प्रकाशित होने पर न तो मनुष्य को आत्मभर्त्सना होती है और न उनका मनोबल घटता है। इससे उसके स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

(८) कामवासना के अनियंत्रित प्रकाशन को, इस वासना से सम्बन्धित कल्पना को तटस्थ भाव से देखकर समाप्त किया जा सकता है। काम-शक्ति का खेल प्रकृति का खेल है। साक्षी भाव से इस खेल को देखने से यह खेल बन्द हो जाता है।

(९) भगवान बुद्ध ने कामवासना के नियंत्रण के लिये अशुभ पर विचार तथा अनापानसति का अभ्यास उपयोगी बताया। अनेक प्रकार की कुटेवें इस अभ्यास से समाप्त हो जाती हैं।

(१०) काम-शक्ति का उचित नियंत्रण तब तक नहीं होता जब तक मनुष्य के जीवन का दर्शन ठीक नहीं हो जाता। वास्तव में मनुष्य का जीवन-दर्शन ही उसे आत्मनियंत्रण की शक्ति प्रदान करता है।

स्मरणशक्ति क्यों नष्ट होती है ?

एक दूसरा नवयुवक लिखता है 'मैं अपने बड़े भाई के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं रख पाता। वे मेरे अध्ययन को महत्व न देकर दूसरे कार्य कराना चाहता हैं। मुझे उनके कुछ कार्य जबरदस्ती करना पड़ते हैं। ये काम मेरे मस्तिष्क में पीड़ा उत्पन्न कर देते हैं। मै उनके प्रति बुरी से बुरी बात सोचने लगता हूँ। मेरी स्मरण शक्ति बहुत ही कमजोर हो गई है, यहाँ तक कि मैं एक मिनट पहले की भी बातें भूल जाता हूँ। फिर जितना ही उन्हें याद करने का प्रयत्न करता हूँ और भी अधिक भूल जाता हूँ। कृपा कर मुझे मार्ग बताइये।'

उपर्युक्त नवयुवक एक आदर्शवादी व्यक्ति है। उसे अनेक प्रकार की काम कुटेवें लग गई थीं। वह अपने आपको इनके लिये कोसता था। हमसे पत्र व्यवहार करने से इसमें सुधार हुआ। अब इनके कारण और उनके परिणामों पर प्रकाश पड़ रहा है। अपने से बड़ों के कठोर व्यवहार से बालकों को सब प्रकार की काम कुटेवें पड़ जाती हैं। जिस प्रकार लाड़ला बालक बिगड़ जाता है, इसी प्रकार ताड़ना में रखा गया बालक भी अभागा होता है। जब बालक किसी प्रकार की कुटेव में पड़ जाता है तो उसकी नैतिक बुद्धि ही उसे दण्ड देने लगती है। वह पहले तो अपनी शर्म की बातें भूलने की चेष्टा करता है पीछे वह सभी बातों को भूलने लगता है। यह आत्म-भर्त्सना के कारण होता है। मनुष्य की स्मरणशक्ति आत्म-विश्वास और आत्म-निर्देश पर निर्भर करती है।

जो व्यक्ति बात बात में अपने आपको कोसता है उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है, उसका आत्म-विश्वास घट जाता है। ऐसे व्यक्ति की स्मरण शक्ति भी दुर्बल हो जाती है। उसमें चरित्र के अनेक दोष भी अनायास आ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को किसी ऐसे रचनात्मक काम में लगाना आवश्यक है जिसे वह सफलता पूर्वक कर सके। किसी भी प्रकार अपने आपको कोसना बन्द करना उसके जीवन के विकास के लिये नितांत आवश्यक है।

इस युवक को चाहिये कि जो विचार उसके मन में आते हैं, चाहे वे भले हों अथवा बुरे उनके प्रति उदासीन होकर उन्हें साक्षी भाव से देखे। फिर ये विचार अपने आप ही भले बन जायेंगे। किसी प्रकार के विचारों के लिये अपने आपको कोसना अपनी इच्छा शक्ति को दुर्बल बनाना है। दूसरे उसे अपनी किसी भी प्रकार की कमजोरी को देर तक नहीं सोचना चाहिये। इससे मानसिक दुर्बलता बढ़ती है। तीसरे, अपने आपको कभी भी निकम्मा न छोड़ना चाहिये। बैठे से बेगार भली। चौथे, किसी भी व्यक्ति को प्यार करने लग जाना चाहिये। पाँचवे, प्रति दिन शारीरिक शिथिलीकरण के साथ साथ मानसिक शिथिली करण का अभ्यास करना चाहिये। इससे दवे कलुषित भाव या तो परिवर्तित हो जाते हैं अथवा चेतना की सतह पर आकर समाप्त हो जाते हैं और फिर नई शक्ति का संचार हो जाता है।

रात को क्यों नहीं दिखाई देता

हमारे एक छात्र ने पूछा—मेरे एक भाई को रात होते ही दिखाई नहीं देता। इसकी उमर १५ वर्ष की है। जब से यह बनारस से घर गया है तब से यह दशा हुई। घर में उदासीन सा रहता है। इस रोग का कोई शारीरिक कारण दिखाई नहीं देता इसके सुधारने का क्या उपाय है।

यह छात्र सम्मान का भूखा है। वह जहाँ रहता है उसे उचित सम्मान नहीं मिलता। उसे बड़ी सख्ती में रखा जाता है। अवारा लड़कों से मिलने पर उसके प्रति बड़ा प्रतिबंध है। उसे घर से बाहर रात में ठहरने नहीं दिया जाता, अतएव अब उसे रात में दिखाई ही नहीं देता। यह बालक पहले बहुत शरारती था। एक बार उसे कुछ लड़कों के साथ चिड़ियों पर कंकड़ फेंकने के लिये इतना पीटा गया कि उसे पैदा होने तक की खबर हो गयी। फिर उसकी पढ़ाई छुड़ा दी गई। वह घर से बनारस भेज दिया गया। यहाँ उसे एक कक्षा नीचे भरती कराया गया। वह यहाँ बहुत सुशील बन गया। परन्तु वह भीतर भीतर मानसिक रोगी भी बन गया। उसकी उद्दण्डता चली गई, उसका स्थान रोग ने लिया। यदि इस बालक को ऐसे स्थान में रखा जाय जहाँ उसका सम्मान हो तो

वह अपने सभी व्याधियों से मुक्त हो जाय। उसे घर पर रात में इसलिये ही दिखाई नहीं देता कि वह घर में नहीं रहना चाहता।

उपर्युक्त कथन की सत्यता उस बालक के प्रति प्रेम व्यवहार करने से प्रकाशित हुई। इस विद्यार्थी को जिस दिन मनोविज्ञानशाला लाया गया और उसका भय का वातावरण बदला उसी दिन से उसे रात में दिखाई देने लगा। उसकी कोई भौतिक चिकित्सा नहीं की गई।

बिगड़े बालकों को कैसे सुधारें ?

एक समाज मंगल विभाग के कार्य कर्त्ता आज पूछने आये कि हम बिगड़े बालकों का सुधार कैसे करें? यह समस्या राज्य की समस्या है। इसका उत्तर है पूरे समाज को सुधारना। प्रोफेसर ए० एस० नील ने जटिल बालकों को सुधारने की चेष्टा की। उन्हें ज्ञात हुआ है कि जटिल बालकों के पिता भी जटिल होते हैं और उनके शिक्षक भी जटिल होते हैं। फिर उन्हें ज्ञात हुआ कि पूरा समाज ही मानसिक जटिलताओं से भरा है और जब तक एक नई शिक्षा प्रणाली का प्रवर्तन नहीं किया जायगा जटिल बालकों का सुधार होना संभव नहीं।

उपर्युक्त सुधार के लिये प्रौढ़ शिक्षा की कक्षायें लेना आवश्यक है। इसके लिये देहात में मेजिक लेन्टर्न से काम लेना अच्छा है। माता पिता को शिक्षा देनी पड़ेगी कि बालक एकाएक सुशील नहीं बनाया जा सका। एकाएक सुशील बना बालक मानसिक रोगी बन जाता है। कितने ही लोग बालकों को बात बात में झिड़कते अथवा मारते पीटते रहते हैं। इससे उनमें मार खाने की आदत पड़ जाती है। ऐसे बालकों में काम वासना की भी विकृति हो जाती है। एक ऐसे लड़के को बिना मार खाये रहा नहीं जाता था। वह जब बड़ा हुआ तो किसी बातके लिये उसे महिलाओं की डाँट खाना आवश्यक हो गया। वह अपनी कल्पना में सुन्दर लड़कियों से पीटे जाने का दृश्य चिन्तित करता था। यही उसका काम तृप्ति का उपाय था। इस विकृति का कारण उसके ताऊ का बात बात में उसकी भर्त्सना करना था। इस लड़के को परीक्षा के समय पड़ी परेशानी होती थी। वह सदा मानसिक बेचैनी की अवस्था में बना रहता था। कितने ही बालक बात बात में झिड़के जाने के कारण डरपोक अथवा हकले हो जाते हैं।

जब माँ लड़के को प्यार करती है और पिता उसका सुधार करना चाहता है तो लड़का उद्दण्ड अथवा अपराधी बन जाता है। किसी भाई के प्रति ईर्ष्या के कारण भी लड़का उद्दण्ड हो जाता है। उसमें चोरी और व्यभिचार की आदतें आजाती हैं। वह घर से भागने लगता है। बात बात में पीटे जाने वाले लड़के में काम कुटेव, समलिंगी व्यभिचार की आदतें लग जाती हैं।

रामू घर से क्यों भागा ?

अब की बार रामू घर से आठ हजार रुपया देकर भाग गया। उसके साथ एक मित्र था। ये दोनों घर से सैकड़ों मील दूर निकल गये। मित्र को यह ज्ञात न था कि रामू के पास आठ हजार रुपया है। कई दिनों पश्चात वे एक वनिये के घर ठहरे। उससे कुछ स्नेह हुआ। वह अपनी लड़की के विवाह के लिये रुपये चाहता था। रामू दयालु तो था ही। उसने अपने कोट की जेब से निकाल कर उसे छः सौ रुपये दे दिये। उसने सात हजार रुपये दूसरी जगह रख लिये थे। बनिये को लोभ ने सताया। उसने सोचा यह लड़का बड़े घर का है और रुपया भी उसके पास होंगे। उसने लड़के के सोने पर सभी सामान को खोजा और उसके सात हजार रुपये भी ले लिये। वह उन्हें खुसी से देकर चल पड़ा। पास में फिर भी तीन सौ रूपया थे ही। उसने सोचा आखिर जीवन कोई महत्व की बस्तु ही नहीं, फिर रुपया किस लिये रखा जाय।

रामू घर से हजार मील दूर चला गया। इधर माँ ने खाना पीना छोड़ दिया। पिता परेशानी में पड़ गये। उन्हें विचार आया कि कोई रामू को मार न डाले। दूर दूर तक खोज हुई, परन्तु रामू तो हजार मील दूरी पर था। माँ का आकर्षण उसे बीहड़ जंगल से वापस लाया। अब तो उसपर पहरा डाल दिया गया। मनोवैज्ञानिकों की खोज होने लगी कि उनके मस्तिष्क का परिवर्तन हो।

रामू से बातचीत होने पर उसने बताया कि मुझे घर के सभी लोग शत्रु रूप दिखाई देते हैं। यदि मुझे एक पिस्तौल मिले तो मैं इन सभी को मार डालूँ। मुझे अपने जीने की भी कोई इच्छा नहीं। मेरे पिता धन कमाने में लगे रहते हैं। मुझे उन्होंने कभी गोदी में नहीं लिया। उनका काम तो इतना ही था कि कहीं से आये तो मुझे पीट देना। यदि मैं जीता हूँ तो अपनी माँ के लिये। उन्हीं के लिये घर वापस आता हूँ। मेरे मन में कोई चैन नहीं है। मैं भयानक स्वप्न देखता हूँ। मुझे नींद ठीक से नहीं आती।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है लड़के घर से क्यों भागते हैं। रामू माँ का लाड़ला है और पिता उसे आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते हैं। वह देखने में सुन्दर, लापरवाह, खर्चीला और सिगरेट आदि पीने वाला बन गया है। जैसे जैसे पिता की सख्ती बढ़ती गई रामू का स्वभाव बिगड़ता गया। वह पिता और बड़े भाई से घृणा करने लगा। पिता को त्रास देने के लिये ही वह घर से भाग जाता था। उसका मन पढ़ाई में नहीं लगता था और पढ़ी बातें वह भूल जाता था।

—सम्पादक

अकारण भय

समाज में बहुत प्रकार के भय होते हैं। बच्चे अनजान वस्तुओं से डरते हैं; सुकुमारियाँ किसी भयंकर वस्तु को देखकर भयभीत होती हैं, भय उनका एक आभूषण समझा जाता है। मनुष्य भी अप्राकृतिक वस्तुओं और अपौरुषेय विघ्न से डरता ही है। इस प्रकार का भय एक साधारण बात है। पर कुछ इस प्रकार के भय होते हैं जो असाधारण कोटि में आते हैं जिसे विक्षिप्त मनुष्य ही अनुभव करते हैं। यह अस्वस्थ मनका सूचक होता है। बहुत से लोगों को अकारण ही सर्प का भय, पानी का भय, आगन्तुक का भय, जीव जन्तुओं का भय लगा रहता है।

हम सम्पूर्ण भय की अवस्थाओं को दो कोटियों में ला सकते हैं। एक प्रकार का भय वैयाक्ति होता है—जैसे मृत्यु का भय, बीमार होने का भय इत्यादि, और दूसरे प्रकार का भय सामाजिक होता है—'जैसे किसी विशेष मनुष्य को देखकर भयभीत होना, अथवा किसी विशेष परिस्थिति से भयभीत होना। पर भय सदा विशेप से सामान्य की ओर उन्मुख होता है। इसी कारण दोनों प्रकार के भय कभी-कभी एक दूसरे का अतिक्रमण भी करते हैं।

उपर्युक्त दो प्रकार के भय के दो प्रकार के भी कारण होते हैं। जितने वैयक्तिक भय होते हैं उनका कारण अविवेक होता है। हमारे जीवन में कुछ ऐसी अविवेक पूर्ण घटना घटित होती है जिसमें हम अपनी भावना का दमन करके और विना उससे उचित शिक्षा लिए उस घटना को भूल जाते हैं। ऐसी अवस्था में हमें अकारण भय हो जाता है।

दूसरे प्रकार का भय सामाजिक होता है। इसका कारण यह है कि जिन मान्यताओं को हम अपने में स्वीकार कर लेते हैं, यदि हम उनके अनुसार आचरण नहीं करते तो हमें सामाजिक भय होने लगता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने को हृष्ट पुष्ट बलवान सदाचारी दिखलाना चाहता है और यदि उसमें कोई नैतिक कमजोरी हुई तो उसे समाज का भय सताता है। मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जो हमें बताती हैं कि किस प्रकार अकर्त्तव्यशील होने से मनुष्य को सामाजिक भय सताता है। मैं बचपन से ही बड़ा सदाचारी और स्वस्थ मन का रहा हूँ, पर बयस्क होनेपर मैं मन से अनैतिक हो गया। मेरा एक महिला से कुछ अनुचित मानसिक सम्बन्ध हो गया। यद्यपि मैंने कभी अनैतिक आचरण नहीं किया पर बुरे विचार बार-बार उसके प्रति लाया करता था। मेरी नैतिकता भी कुछ कम न थी। इस प्रकार मेरे

रामू घर से क्यों भागा ?

अब की बार रामू घर से आठ हजार रुपया देकर भाग गया। उसके साथ एक मित्र था। ये दोनों घर से सैकड़ों मील दूर निकल गये। मित्र को यह ज्ञात न था कि रामू के पास आठ हजार रुपया है। कई दिनों पश्चात वे एक बनिये के घर ठहरे। उससे कुछ स्नेह हुआ। वह अपनी लड़की के विवाह के लिये रुपये चाहता था। रामू दयालु तो था ही। उसने अपने कोट की जेब से निकाल कर उसे छः सौ रुपये दे दिये। उसने सात हजार रुपये दूसरी जगह रख लिये थे। बनिये को लोभ ने सताया। उसने सोचा यह लड़का बड़े घर का है और रुपया भी उसके पास होंगे। उसने लड़के के सोने पर सभी सामान को खोजा और उसके सात हजार रुपये भी ले लिये। वह उन्हें खुसी से देकर चल पड़ा। पास में फिर भी तीन सौ रूपया थे ही। उसने सोचा आखिर जीवन कोई महत्व की बस्तु ही नहीं, फिर रुपया किस लिये रखा जाय।

रामू घर से हजार मील दूर चला गया। इधर माँ ने खाना पीना छोड़ दिया। पिता परेशानी में पड़ गये। उन्हें विचार आया कि कोई रामू को मार न डाले। दूर दूर तक खोज हुई, परन्तु रामू तो हजार मील दूरी पर था। माँ का आकर्षण उसे बीहड़ जंगल से वापस लाया। अब तो उसपर पहरा डाल दिया गया। मनोवैज्ञानिकों की खोज होने लगी कि उनके मस्तिष्क का परिवर्तन हो।

रामू से बातचीत होने पर उसने बताया कि मुझे घर के सभी लोग शत्रु रूप दिखाई देते हैं। यदि मुझे एक पिस्तौल मिले तो मैं इन सभी को मार डालूँ। मुझे अपने जीने की भी कोई इच्छा नहीं। मेरे पिता धन कमाने में लगे रहते हैं। मुझे उन्होंने कभी गोदी में नहीं लिया। उनका काम तो इतना ही था कि कहीं से आये तो मुझे पीट देना। यदि मैं जीता हूँ तो अपनी माँ के लिये। उन्हीं के लिये घर वापस आता हूँ। मेरे मन में कोई चैन नहीं है। मैं भयानक स्वप्न देखता हूँ। मुझे नींद ठीक से नहीं आती।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है लड़के घर से क्यों भागते हैं। रामू माँ का लाड़ला है और पिता उसे आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते हैं। वह देखने में सुन्दर, लापरवाह, खर्चीला और सिगरेट आदि पीने वाला बन गया है। जैसे जैसे पिता की सख्ती बढ़ती गई रामू का स्वभाव बिगड़ता गया। वह पिता और बड़े भाई से घृणा करने लगा। पिता को त्रास देने के लिये ही वह घर से भाग जाता था। उसका मन पढ़ाई में नहीं लगता था और पढ़ी बातें वह भूल जाता था।

—सम्पादक

अकारण भय

समाज में बहुत प्रकार के भय होते हैं। बच्चे अनजान वस्तुओं से डरते हैं; सुकुमारियाँ किसी भयंकर वस्तु को देखकर भयभीत होती हैं, भय उनका एक आभूषण समझा जाता है। मनुष्य भी अप्राकृतिक वस्तुओं और अपौरुषेय विघ्न से डरता ही है। इस प्रकार का भय एक साधारण बात है। पर कुछ इस प्रकार के भय होते हैं जो असाधारण कोटि में आते हैं जिसे विक्षिप्त मनुष्य ही अनुभव करते हैं। यह अस्वस्थ मनका सूचक होता है। बहुत से लोगों को अकारण ही सर्प का भय, पानी का भय, आगन्तुक का भय, जीव जन्तुओं का भय लगा रहता है।

हम सम्पूर्ण भय की अवस्थाओं को दो कोटियों में ला सकते हैं। एक प्रकार का भय वैयाक्ति होता है—जैसे मृत्यु का भय, बीमार होने का भय इत्यादि, और दूसरे प्रकार का भय सामाजिक होता है—'जैसे किसी विशेष मनुष्य को देखकर भयभीत होना, अथवा किसी विशेष परिस्थिति से भयभीत होना। पर भय सदा विशेष से सामान्य की ओर उन्मुख होता है। इसी कारण दोनों प्रकार के भय कभी-कभी एक दूसरे का अतिक्रमण भी करते हैं।

उपर्युक्त दो प्रकार के भय के दो प्रकार के भी कारण होते हैं। जितने वैयक्तिक भय होते हैं उनका कारण अविवेक होता है। हमारे जीवन में कुछ ऐसी अविवेक पूर्ण घटना घटित होती है जिसमें हम अपनी भावना का दमन करके और विना उससे उचित शिक्षा लिए उस घटना को भूल जाते हैं। ऐसी अवस्था में हमें अकारण भय हो जाता है।

दूसरे प्रकार का भय सामाजिक होता है। इसका कारण यह है कि जिन मान्यताओं को हम अपने में स्वीकार कर लेते हैं, यदि हम उनके अनुसार आचरण नहीं करते तो हमें सामाजिक भय होने लगता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अपने को हृष्ट पुष्ट बलवान सदाचारी दिखलाना चाहता है और यदि उसमें कोई नैतिक कमजोरी हुई तो उसे समाज का भय सताता है। मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जो हमें बताती हैं कि किस प्रकार अकर्त्तव्यशील होने से मनुष्य को सामाजिक भय सताता है। मैं बचपन से ही बड़ा सदाचारी और स्वस्थ मन का रहा हूँ, पर बयस्क होनेपर मैं मन से अनैतिक हो गया। मेरा एक महिला से कुछ अनुचित मानसिक सम्बन्ध हो गया। यद्यपि मैंने कभी अनैतिक आचरण नहीं किया पर बुरे विचार बार-बार उसके प्रति लाया करता था। मेरी नैतिकता भी कुछ कम न थी। इस प्रकार मेरे

मस्तिष्क का विभाजन हो गया। रातदिन स्वप्न दोष होने लगे। मेरा शरीर इतना दुर्बल हो गया कि समाज के सामने खुले बदन जाने में मुझे भय होने लगा। जब मैं अपना खुला शरीर समाज के समक्ष रखता तो भय के मारे वीर्यपात होने लगता था। अतः मैंने अपना खुला शरीर समाज के समक्ष लाना ही बन्द कर दिया पर इसका परिणाम और भी भयंकर हुआ। कहीं भी कोई खटखटाहट, बाल्टी की आवाज, किसी व्यक्ति के आने की आहट इत्यादि से मुझे वीर्यपात का भय होने लगा। किसी भी प्रकार की आवाज सुनने पर वीर्यपात का भय होने लगता था। इससे मुझे अपने को काफी दमन करना पड़ता था।

समय के परिवर्तन के साथ-साथ रोग अपना मार्ग भी बदलता रहता है। कभी-कभी तो उसका रूपान्तरण इस प्रकार हो जाता है कि वही रोग रहने पर भी हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई दूसरा रोग हो गया। पर बात ऐसी नहीं होती। मैंने रोग की निवृत्ति के लिए पूजा पाठ, ईश्वर भक्ति, स्त्री-प्रणय, अनापान सति, और मैत्री भावना का अभ्यास किया। इससे वीर्यपात का भय समाप्त हो गया। अब मुझे तेज आवाज के साथ हृदय-रोग का भय हो गया। कहीं भी यदि पटाखे की आवाज होती तो ऐसा मालूम पड़ता कि हृदय पर कोई घन पटक रहा है। बन्दूक की आवाज से तो मुझे विशेष भय होता था। वीर्यपात का भय ही पटाखे और बन्दूक के भय के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार हमारा सामाजिक भय अन्य प्रकार के भयों में रूप बदलता जाता है। प्रतीक रूप से पटाखा छूटना वीर्यपात होने का भय है। बन्दूक, जनेन्द्रिय का प्रतीक है। वीर्यपात का भय बाह्य जगत के भय के रूप में परिणत हो जाता है।

आज भी मैंने अपनी शारीरिक उन्नति उतनी नहीं कर ली है कि स्वतंत्रतापूर्वक शरीर को खोलकर समाज में विचरण कर सकूँ। अतः इसका दमन होता ही है। धीरे-धीरे शारीरिक उन्नति कर रहा हूँ। अब मेरे भय ने दूसरा रूप धारण कर लिया है। पटाखे का भय अब बादलों का भय हो गया है। हृदय में उतनी चोट तो नहीं पहुँचती पर यह अवश्य होता है कि बादलों की तेज गड़गड़ाहट के साथ मेरे हृदय की गति न बन्द हो जाय, यह डर लगता है। बादल पानी बरसाते हैं, उनमें बिजली होती है। पानी बरसना वीर्यपात का प्रतीक है, बिजली का चमकना काम वासना की जाग्रति है। वीर्यपात का भय, रूपान्तरति होकर गड़गड़ाहट के भय में परिवर्तित हो गया है। इन सबका एक कारण शरीर का समाज के समक्ष प्रदर्शित न करना था। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि किसी भी मान-

सिक रोग के कई कारण होते हैं। सभी कारण मिलकर किसी मानसिक रोग को जन्म देते हैं। इन कारणों में भौतिक, वैयक्तिक और सामाजिक मुख्य हैं। जिसके जीवन में पर्याप्त यौनिक सुख रहा और जिसने कामवासना का जीवन में दमन नहीं किया है उसे किसी भी प्रकार का भयंकर मानसिक रोग नहीं सताता। सभी प्रकार के मानसिक रोगों में कामवासना के दमन का कुछ न कुछ तत्व अवश्य ही वर्तमान रहता है। दूसरा कारण वैयक्तिक कारण है। जिनका शरीर सुगठित इन्द्रियाँ पुष्ट और जिन्हें जननेन्द्रिय सम्बन्धी सन्देह नहीं होते उन्हें जल्दी मानसिक रोग नहीं होते। इसके साथ-साथ जिनकी परिस्थितियाँ सुन्दर हैं, जिनका परिवार नैतिक है, जो अपने अधिकार और कर्त्तव्य का भली भाँति पालन करते हैं, जिन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं वे भी जल्दी मानसिक रोग का शिकार नहीं होते।

मानसिक रोग दो प्रकार के लोगों को नहीं होते—एक वे जिन्हें नैतिकता की कोई परवाह ही नहीं होती और दूसरे वे जिनकी नैतिकता इतनी प्रबल है कि वे उसके प्रतिकूल आचरण नहीं करते। जिन लोगों का लालन-पालन नैतिक वातावरण में होता है उनके मनमें नैतिक स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जब ऐसे लोग कामवासना के वशीभूत होकर नैतिकता की अवहेलना करते हैं तो उन्हें भारी आत्म-ग्लानि होती है। वे फिर अपने नैतिक बल को संचित करते हैं। परन्तु उन्हें अपनी अनैतिक प्रवृत्तियों से सदा डर बना रहता है। उनका यह डर ऐसी हर एक बात पर आरोपित हो जाता है जो किसी प्रकारकी समानता सच्ची डर की बात से रखती है। सच्चे डर की बात को तो वह भुलाये रखता है अतएव वह उसके प्रतीकों से ही डरने लगता है। शरीर उघारने से, पटाके से, बादल गरजने से, बिजली चमकनेसे, परीक्षासे डरना प्रतीक रूपसे कामवासना के प्रकाशन से डरना है। जिस व्यक्ति के जीवन में जितना अधिक इसका दमन होता है उसे अकारण भय भी उतने ही अधिक होते हैं। इस प्रकार के भयों की उत्पत्ति वासना के बारबार उत्तेजित होकर दमन होनेसे होती है। इनका अन्त दमित वासना का ज्ञान करके और उसका नैतिकता से समन्वय करने से होता है। जब तक मनुष्य की वासना में और नैतिकता में परिवर्तन नहीं होता अकारण भय नहीं जाता।

—जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एम० ए०

आत्म-संमोहन

ज्ञान-संग्रह से हम अपना आध्यात्मिक धन सदैव बढ़ाते रहते हैं। जिस प्रकार एक कृपण पैसा जमा करके धन का भण्डार एकत्रित कर लेता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान तथा सद्विचारों के निरन्तर जोड़ने से हमारा अध्यात्मिक बल बहुत बढ़ जाता है, आत्मबल की प्रचुर वृद्धि होती है, मन के अन्दर के द्वन्द्व एवं सम्पूर्ण उच्छृङ्खलताएँ मिट जाती हैं। आत्म-सम्मोहन की अवस्था वह है जिसमें आत्म-समन्वय स्थापित हो जाता है। मन को बाँधना जीवन का बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, यह अपने तथा दूसरों के लिए भी है। यह अपने को आरोग्यवान बनाने की अपेक्षा अधिक कठिन है।

विद्वान, धनी तथा किसी भी दृष्टि से भौतिक-प्रभुता वालों के मन में द्वन्द्व बना रहता है। वे सदैव सशंकित रहा करते हैं, किसी पर विश्वास करना तो दूर की बात। शंका की अवस्था में की गई कल्पनाएँ शंका में ही रहकर असफल हो जाती हैं, इसके विपरीत दृढ़ संकल्प की अवस्था में मनकी सम्पूर्ण एकता बनी रहती है। इसमें किये गये संकल्प एवं कल्पनाएँ शत-प्रतिशत सफल होते हैं। आत्म-सम्मोहन मन को वश में करने का उपाय है। आत्म-सम्मोहन की अवस्था में किये गये आत्मनिर्देश द्वारा भयंकर से भयंकर मानसिक तथा शारीरिक रोग जाते रहते हैं। साधु महात्माओं तथा महापुरुषों के आशीर्वाद आदि से मानसिक स्थिरता स्थापित हो जाती है। यही कारण है कि प्रबल विश्वास के द्वारा अनेकानेक शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। अचेतन मन में किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा कार्य के प्रति प्रबल विश्वास उत्पन्न हो जाने पर हमारी आन्तरिक शक्ति बढ़ जाती हैं और हम आरोग्य लाभ करते हैं।

आत्म-संमोहन के द्वारा मनुष्य अपने अकारण भय और चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है; वह अपने घबड़ाहट पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस अभ्यास के नित्य प्रति करनेसे शारीरिक क्लेश भी कष्ट नहीं देते। वह किसी प्रकार की पीड़ा से मुक्त हो सकता है। आत्म-संमोहन के अभ्यास से मनुष्य अपनी शारीरिक क्रियाओं को वश में कर लेता है। उसे भूख प्यास नहीं सताती। यह अवस्था आत्म-निर्देशसे प्राप्त होती है। शरीर और मन की शान्त अवस्था में जिस प्रकार का निर्देश मनुष्य अपने आपको देता है वह सफल हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य किसी प्रकार की बुरी आदत अथवा काम-कुटेव से अपने आपको मुक्त कर सकता है।

हिस्टीरिया तथा अनेकों अन्य मानसिक बीमारियाँ छूत की बीमारियाँ

हैं। इस अवस्था में व्यक्तित्व का विभाजन हो जाता है, जिसके समन्वय के लिये चिकित्सक का निर्देश आवश्यक होता है। आत्म-सम्मोहन की अवस्था में रहने वाला व्यक्ति अथवा जो व्यक्ति आसानी से आत्म-सम्मोहन की अवस्था प्राप्त कर लेता हो, अपनी इच्छा शक्ति बढ़ा लेता है। वह अपने मन से मनमानी करा लेता है, पर यदि उसका प्रयोग ध्वंसात्मक दिशा में हुआ तो इससे समाज का तथा स्वयं अपना अत्यधिक अपकार होता है। इसके विपरीत उस शक्ति के रचनात्मक प्रयोग से सबका अपार लाभ हो सकता है।

आत्म-सम्मोहन एक साधना तथा योग की अवस्था है। साधारण अवस्था में चेतना जगत से अनावश्यक सम्बन्ध रखती है। आलोचनाओं की ओर से उदासीन रहने से एवं उनके प्रति निर्लिप्तता की भावना रखने से हम आत्म-सम्मोहन की वृत्ति बना लेते हैं। निरन्तर अभ्यास आत्म-सम्मोहन में सहायक होते हैं। आत्म-सम्मोहन के द्वारा मानसिक-शक्ति जब बढ़ जाती है तब उसका उपयोग सामाजिक उपकार में किया जा सकता है। मन के विभाजन से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, तथा समन्वय से उनका नाश। मानसिक स्वास्थ्य के लाभार्थ स्वयं के द्वारा किए गये कार्य योग कहलाते हैं तथा दूसरे प्रभावशाली व्यक्ति के द्वारा किए गये कार्य को मानसिक चिकित्सा की संज्ञा मिलती है।

यदि हम अकेले बैठकर नित्य प्रति प्रातः शान्त भावना से, सर्व कल्याण की कामना करते-करते शून्य अवस्था प्राप्त करलें, तो सम्पूर्ण विश्व कल्याणपूर्ण हो जाए, सभी प्रकार के द्वन्द्व, विकृति समाप्त हो जायँ और शिव साक्षात्कार हो जाए। इस क्रिया से विकृत मनोभावक कल्याणकारी हो जाते हैं और फिर सब कुछ भला हो जाता है।

यदि हम सोचे कि कोई भी हमारी शिकायत नहीं करता, सभी हमें प्यार तथा प्रसंसा करते हैं तो हम सचमुच अपने को वैसा ही पाते हैं। विपरीतता अनुकूलता में बदल जाती है। आत्म सम्मोहन के द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त कर लेने पर हमारे सभी संकल्प पूरे हो जाते हैं।

—सीताराम जायसवाल एम० ए०

विभ्रम

आधुनिक युग में मनुष्य के विचारों और भावनाओं का जितना अध्ययन हुआ है, पहले कभी नहीं हुआ था। बीसवीं शताब्दी के पूर्व मन की बनावट के विषय में हमारा इतना कम ज्ञान था कि हम इसे इतनी तुच्छ वस्तु मान बैठे कि इसके विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं देखते थे। आज हम देखते हैं कि मानव जीवन में जो कुछ महानता अथवा न्यूनता रहती है वह उसके मस्तिष्क की बनावट के ऊपर निर्भर करती है। ऊडवर्थ का कथन है कि हम संसार को वैसा नहीं देखते जैसा वह है किन्तु हम उसे वैसा देखते हैं जैसा हम है। इस कथन की सत्यता विभ्रम के अध्ययन से स्पष्ट होती है।

विभ्रम मनुष्य की असाधारण मानसिक अवस्था है। विभ्रम की अवस्था में मनुष्य किसी प्रकार का झूठा विश्वास कर लेता है और उससे उसे मुक्त करने की कितनी ही चेष्टा क्यों न की जाय वह उसे नहीं छोड़ता। विभ्रम भ्रम और मति-भ्रम से भिन्न वस्तु है। भ्रम का नये ज्ञान से अन्त हो सकता है, विभ्रम का इस प्रकार अन्त नहीं होता। मनुष्य अपने बुद्धि के दरवाजे विचार के लिए बन्द कर देता है। मति-भ्रम में मनुष्य अनुपस्थित वस्तु को अपने सामने उपस्थित देखता है। परन्तु यह भी अस्थायी वस्तु होती है। विभ्रम स्थायी मानसिक गड़बड़ी है। जिस व्यक्ति को अधिक विभ्रम होता है वह या तो अर्द्ध-विक्षिप्त या पागल हो जाता है।

विभ्रम का एक सुन्दर उदाहरण प्रोफेसर फिशर ने अपनी 'एबनारमल साइकालोजी' नामक पुस्तक में दिया है। विभ्रम से पीड़ित एक लड़की शहर की एक चौमुहानी पर खड़े हुये एक सिपाही को देखकर सोचती थी कि वह अपने हाथ के इशारे से उसे बुला रहा है, जब कि वह केवल पथगामियों को हाथ से मार्ग-निर्देशन मात्र करता था। किसी प्रकार के तर्क द्वारा उसे इस विचार से मुक्त नहीं किया जा सकता था। वह अपनी धारणा की पुष्टि के लिए अनेक नये तर्क देती थी। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके अचेतन मन में किसी ऐसे व्यक्ति से प्रेम था जो इस सिपाही से मिलता जुलता था। उसकी नैतिक बुद्धि इस प्रेम को स्वीकार नहीं करना चाहती थी। अतएव वह प्रेम की भावना एक ऐसे व्यक्ति के ऊपर आरोपित होकर प्रकाशित हुई, जो इस युवती के प्रेम से सर्वथा अनभिज्ञ था।

एक दूसरी महिला को विभ्रम हो गया कि उसका पति किसी दूसरी युवती को प्यार करता है। जितना ही उसका पति उसके इस विश्वास की निराधारता

को समझाता, उसका विश्वास उतना ही दृढ़ होता जाता था। इस महिला के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसका आन्तरिक मन अपने घर आने वाले एक रूपवान युवक से जो उसकी लड़की को संगीत सिखाता था, फँस गया था। यह युवक उमर में उसके बेटा के समान था। अतएव उसकी अहंकार की भावना इस प्रेम को स्वीकार नहीं कर सकती थी। फिर यह भावना पति के आचरण पर आरोपित होकर प्रकाशित हुई। जो दोष हमारे चरित्र में होते हैं, और जिनकी आत्म स्वीकृति हमारे लिए कठिन होती है उन्हीं दोषों को हम अपने सम्बन्धियों में देखने लगते हैं। इसी प्रकार विभ्रम की उत्पत्ति होती है।

एक पैंतीस वर्षीय कुरूप व्यक्ति को विभ्रम हुआ कि उसके अध्यापक की पुत्री ही उसके प्रेम में मरी जा रही है। इस व्यक्ति को न रूप था, न धन और न विद्या ही थी। सामाजिक मान मर्यादा भी ऐसी न थी कि वह लड़की उससे प्यार करती। परन्तु उसके इस विश्वास को बदलना सर्वथा असंभव हो गया। उसने इसके लिए मारपीट भी खाई। वह इन सब को अपने शत्रुओं का षड़यंत्र मानता रहा। इस विभ्रम का कारण जानने पर पता चला कि इस व्यक्ति को किसी सुन्दर युवती के प्रेम की अत्यन्त चाह थी। परन्तु उसकी सामाजिक स्थिति उसके अनुकूल न थी। अतएव यह प्रेम उक्त विक्षिप्तता का रूप लेकर विभ्रम के रूप में प्रकट हुआ।

विभ्रम की अवस्था में मनुष्य अपने को कुछ का कुछ समझने लगता है। बनार्ड हार्टने अपनी 'सोइकालाजी आफ इनसेनिटी' नामक पुस्तक में इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। पागलखाने की एक महिला जो चिथड़े पहने हुए थी अपने आपको रानी की बेटी समझती थी और पागलखाने के कर्मचारियों को नौकर मानती थी। एक व्यक्ति अपने आपको बहुत बड़ा साहित्यकार मानने लगा था। परन्तु उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति बड़ी सोचनीय थी। अब उसे विभ्रम हो गया कि संसार के दूसरे लोग उसकी प्रतिभा से ईर्ष्या करते हैं और उसे हर प्रकारसे गिराने की चेष्टा करते हैं। वे उसके विरुद्ध षणयन्त्र करते रहते हैं। वह समझता था कि उसके चारो ओर उन्होंने खुफिया पुलिस विठाल रखी है। जितना ही उसकी इस धारणा के विरुद्ध उससे कुछ कहा जाता था उसकी यह धारणा और भी पक्की होती जाती थी। वह अपने सम्बन्धियों को भी अपना शत्रु मानने लगा। यह अपनी स्त्री को भी अकारण ही विभ्रम वश पीटता था। उसके जीवन का अन्त दुःख से हुआ।

सामान्य पुरुषों की प्रबल अतृप्त इच्छायें स्वप्न में प्रकट होती हैं। मनुष्य इस अवस्था में एक अपने ही मन के जगत में विचरण करता है। परन्तु जाग्रति होने

पर उसका यह स्वप्न-संसार नष्ट हो जाता है। पागल लोग सदा स्वप्न-संसार में बने रहते हैं। जब किसी व्यक्ति की विशेष प्रकार की इच्छायें अत्यधिक प्रबल होती हैं तब उसकी बुद्धि विवेक के नियंत्रण में नहीं रहती। वह अपने इन्द्रिय-ज्ञान का विशेष प्रकार का अनोखा अर्थ लगाने लगता है। इस प्रकार विभ्रम की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। विभ्रम कई प्रकार होते हैं। कुछ लोगों को प्रेम सम्बन्धी, कुछ को समाज सुधार सम्बन्धी, कुछ को आविष्कार सम्बन्धी और कुछ को धर्म सम्बन्धी विभ्रम होते हैं। 'जोन आफ आर्क' को विभ्रम था कि उसे किसी देवी ने फ्रान्स को अंग्रेजों से मुक्त करने के लिए ही पैदा किया है। इसके कारण वह अनेक प्रकार के असाधारण कार्य कर सकी। कहा जाता है कि हिट्लर को भी इसी प्रकार का विभ्रम आर्य जाति का झण्डा सारे विश्व में लहराने का था। वह अपने आप को एक विशेष प्रकार का व्यक्ति मानता था। अतएव अपने जेनरलों की सलाह नहीं सुनता था। कुछ धर्म के पैगम्बर अपने आपको भगवान का विशेष दूत मानने लगते हैं। इन सब विभ्रमों का कारण अपने मन में ही स्थित प्रबल इच्छा और अपनी साधारण शक्ति के विषय में हीनता का भाव रहता है। इसकी अतिपूर्त्तिकरण विभ्रम और दिवा-स्वप्नों से होती है। जिस मनुष्य में आत्म-विश्वास दृढ़ रहता है उसे विभ्रम में रहने की आवश्यकता नहीं रहती। पैरानोइया और सीजोफ्रेनिया के रोगी में ये विभ्रम अत्यधिक पाये जाते हैं। ये उनके आत्म-बचाव के उपाय हैं। इनके रहनेपर ही वे जी सकते हैं।

विभ्रम से पीड़ित व्यक्तियों के मन में प्रायः आत्महीनता की भावना रहती है। पेरानोइया के रोगी में यह विशेषकर पाई जाती है। जिन लोगों की आकांक्षायें इतनी चढ़ी बढ़ी रहती हैं कि उनकी पूर्ति की उन्हें अपने सामान्य जीवन में आशा ही नहीं रहती वे ही विभ्रम की शरण लेते हैं। विभ्रम की मनोवृत्ति का अन्त अपनी इच्छाओं को कम करके अथवा अपनी योग्यता की वृद्धि करके किया जा सकता। पहला मार्ग दार्शनिक है और दूसरा व्यवहारिक।

स्वस्थ और संतुलित जीवन में विभ्रमों की आवश्यकता नहीं रहती। जिस व्यक्ति को अपने सामर्थ्य में विश्वास है वह अपने सामान्य वातावरण से लड़ता और उसपर विजय प्राप्त करके उसे अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है और वह विभ्रमों का सहारा नहीं लेता।

—शान्ती शर्मा

नैतिकता और स्वास्थ्य

मनुष्य का स्वास्थ्य उसके व्यक्तित्व की पूर्णता की अनुभूति है। जब मनुष्य अपने आपमें किसी प्रकार की अपूर्णता का ज्ञान करता है तो उसे मानसिक उद्विग्नता होती है। यह अनुभूति शारीरिक, बौद्धिक अथवा नैतिक कमी की होती है। इसमें नैतिक कमी मनुष्य को सबसे अधिक दुःख देती है। इस कमी के भुलाने के लिये मनुष्य कुछ असाधारण प्रयास करता है। कभी कभी नैतिकता की अवहेलनाजन्य आत्मग्लानि को भुलाने के लिये मनुष्य अत्यधिक तपस्वी, त्यागी अथवा समाज सेवी बन जाता है। यदि मनुष्य इन बातों को जान-बूझकर प्रायश्चित के रूप में करें तो इससे उसका वास्तविक आध्यात्मिक लाभ हो। अर्थात् उसे भीतरी मन में शान्ति प्राप्त हो और इच्छाशक्ति की दृढ़ता आवे। जब उपर्युक्त क्रियायें अपने अनजाने अतिपूर्तिकरण के रूपमें होती हैं तब इन क्रियाओं से मनुष्य की आन्तरिक बेचैनी नहीं जाती। उसका केवल अभिमान बढ़ता है। ऐसे व्यक्तिको फिर मानसिक अथवा शारीरिक रोग होते हैं। ये रोग उसकी आध्यात्मिक आवश्यकतायें हैं। इससे मनुष्य के मन की भीतरी स्थिति प्रगट हो जाती है। अपनी वास्तविक कमी को स्वीकार करने से रोग की समाप्ति होती है। रोग अभिमान विनाशक हैं। अभिमान वस्तुस्थिति को दृष्टि ओझल करता है। वस्तुस्थिति के ज्ञान होने पर अभिमान और रोगमें अपने आप कमी हो जाती है। इस प्रकार रोग मनुष्य की झूठी नैतिकता को समाप्त कर सच्ची नैतिकता लाता है।

नैतिकता मनुष्य के व्यक्तित्व की बनावट का प्रमुख अंग है। अतएव जब भी मनुष्य इसके प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे आन्तरिक बेचैनी उसी प्रकार होती है जिस प्रकार धनी मनुष्य को अपने धन खोने से बेचैनी होती है। नैतिकता की अवहेलना से मनुष्य की इच्छा शक्ति दुर्बल हो जाती है। फिर मनुष्य अपने मन में आनेवाली अभद्र कल्पनाओं को रोक नहीं पाता। जब मनुष्य किसी अनैतिक कार्य को करता है तब उसे आत्म ग्लानि होती है। वह इसको जब भुला देता है तो आत्मग्लानि का भाव शारीरिक अथवा मानसिक रोग के रूप में प्रगट होता है ताकि उसी प्रकार काम मनुष्य फिर से न करे। इस प्रकार अनैतिक आचरण के लिये उसका नैतिक स्वत्व दण्ड देता है। यह दण्ड उसमें सद्भाव और सदाचार की शक्ति उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता हमारे पास मानसिक चिकित्सा के लिये आये रोगियों की जीवनी से प्रमाणित होती है। एक किशोर बालक ने काम वासना

के वश में होकर समलिंगी व्यभिचार में भाग लिया। इसके बाद उसे आत्म-ग्लानि हुई। उसने इसे भुलाने का पूरा प्रयत्न किया। इसके भूल जाने पर उसे श्वेत कुष्ट हो गया। यह रोग उसके ओंठ और हाथ में विशेष रूप से हुआ। यह एक प्रकार से छिपे काम का प्रतीक रूप से सबके सामने आना था। एक दूसरे युवक को इसी प्रकार के समलिंगी काम कीड़ा के कारण कुष्ट रोग होने का भय हो गया। उसके मनमें बारबार कल्पना आती थी कि उसके हाथ पैर में सफेद कुष्ट हो गया है और वह उससे बहुत दुखी था। वह स्वप्न में भी अपने आपको कुष्ट रोग से पीड़ित देखता था। एक तीसरे युवक ने एक व्याख्यान में सुना कि कुष्ट रोग बड़ा संक्रामक है। जो कोढ़ियों के समीप रहता है उसे वह हो जाता है। इस युवक के घर के सामने तीन कोढ़ी रहते थे। उसके मनमें कल्पना आई कि उसे कुष्ट रोग की छूत अवश्य लग गई है और उसे वह रोग हो आयेगा। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि यह समलिंगी काम व्यभिचार में भाग लेने से जो आत्मग्लानि हुई उसके दमन का परिणाम है। हाल में एक नवयुवक को प्रबल हृदय का रोग और हाथ पैर की शून्यता आ गई। यह रोग उसे उस समय हुआ जब वह अपने घर से रोजगार पर हजार मील दूर जाने की तैयारी कर रहा था। साल भर उसने इस रोग की डाक्टरी दवा कराई, पर रोग बढ़ता ही गया। फिर वह किसी व्यक्ति की सलाह से हमारे पास आया। उसकी जीवनी से पता चला कि उसे अपने व्यापार के स्थान में एक धनी व्यापारी के साथ, जिसके यहाँ वह नौकरी करता था, अनेक प्रकार के व्यभिचार में भाग लेना पड़ता था। इससे उसे आत्म-ग्लानि होती थी। परन्तु नौकरी के लोभ के कारण वह इसे छोड़ नहीं सकता था। इस रोग ने उसे इससे रोक दिया। रोग उसी समय हुआ जब वह बाहर जा रहा था। जब उसे रोग का कारण ज्ञात हो गया और उसने पुराने कृत्य से मुक्ति पाने का निश्चय कर लिया तो उसका रोग जाता रहा।

बहुत से नवयुवकों को हस्तमैथुन जन्य आत्मग्लानि के परिणाम-स्वरूप हृदय की धड़कन, क्षय रोग का भ्रम, स्मरण शक्ति का ह्रास, साँप छछूंदर, कीड़े मकोड़े और अकेले रहने का भय हो जाता है। एक युवक को अपने मित्र की पत्नी के साथ व्यभिचार करने से नपुंसकता आ गई, एक दूसरे को एक्जमा हो गया और उसे बाध्य विचार सताता था कि उसे सभी लोग चोर समझते हैं। एक को हृदय की धड़कन और एकको दमा होगया था। अपनी भूल के कारण यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु हो गई हो और यदि भूल के लिये व्यक्ति को आत्मग्लानि हुई तो उसी प्रकार का रोग उसे भी हो जाता है। संपादक

मनोवैज्ञानिक समस्यायें

१—हकलाहट कैसे हटाई जा सकती है ?

एक युवक जो प्रताप गढ़ में अच्छे पदपर सरकारी नौकरी कर रहा है लिखता है 'मैं बोलने में हकलाता हूँ। अपनी अवस्था के और समान पद पर कार्य करने वाले अधिकारियों से बातें करने में उतना नहीं हकलाता परन्तु जब किसी बड़े अफसर से बात करना पड़ता है तो चेहरा लाल हो जाता है, बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे कुछ बोल पाता हूँ। बाद में बड़ी आत्म ग्लानि होती है और अपने पर क्रोध भी आता है। एकान्त में मैं ठीक से बोल लेता हैं। गाने में भी नहीं हकलाता। हमारा रोग मानसिक है। हमें उपाय बताइये किस प्रकार व्याधि से मुक्त हों ?'

हकलाहट एक जटिल मानसिक रोग है। हकलाने वाले व्यक्ति में उसी प्रकार की दुविधा की मनोवृत्ति रहती है जो किसी मानसिक रोगी में रहती है अर्थात् बाहरी मन एक बात चाहता है और भीतरी मन दूसरी। मनुष्य का मानसिक रोग तभी जाता है जब उसका भीतरी मन उसे छोड़ना चाहता है। जब बाहरी मन जोर डालकर रोग छुड़ाना चाहता है तो वह और भी बढ़ जाता है अथवा रूपान्तरित हो जाता है। हकलाने के विषय में भी यही सत्य है। हकलाने वाला व्यक्ति अपनी इस कमी से बहुत परेशान रहता है और जितना ही वह इसे छोड़ने के लिये उद्विग्न मन होता है रोग उतना ही बढ़ जाता है।

मानसिक रोग की ऊपर की विलक्षणता को मानकर बताया जा सकता है कि हकलाने वाले का भीतरी मन बोलना नहीं चाहता और बाहरी मन बोलने के लिये उसे बाध्य करता है। जब तक भीतरी मन को बोलने के लिये राजी न कर लिया जाय तब तक हकलाहट रहेगी, जो छुड़ाने के यत्न से और भी बढ़ जायगी। भीतरी मन को बोलने के लिये राजी करने के लिये उस द्वेष ग्रन्थि का समाप्त करना आवश्यक होता है जिसके कारण पहले बार व्यक्ति को हक-लाना प्रारंभ हुआ। मान लीजिये कोई लड़का सिगरेट पीते, चोरी करते अथवा जननेन्द्रिय को छूते हुए पकड़ लिया गया। अब उससे एकाएक जब पूछा जाता है कि तुम क्या कर रहे थे तो वह हकलाने लगेगा। पूछने वाला व्यक्ति साधार-णतया अपने से बड़ा होता है। बाद में मूल घटना तो विस्मृत हो जाती है पर हकलापन रह जाता है। यह अपने से बड़े आदमी के प्रश्न के उत्तर देते समय अवश्य आ जाती है। इस तरह हकले लोगों को अपने पिता, आफिसर अथवा बड़े भाई से बात चीत करते समय हकलाहट अधिक हो जाती है। यदि इन बड़े

लोगों के प्रति मैत्री भाव पैदा हो जाय तो हकलाहट समाप्त हो जाय।

एक लड़के को हकलाहट तब से प्रारंभ हुई जब वह दोस्तों के साथ पत्ते (तास) खेलते हुये पकड़ लिया गया। भाई ने उसे खूब पीटा और गन्दे लांछन लगाये। वह भाई को घृणा करने लगा और तभी से हकला बन गया। एक दूसरे व्यक्ति को हकलापन एक शिक्षक के प्रश्न का उत्तर देते समय शुरु हुआ। वह उस समय अपने एक मित्र के साथ कुछ मजाक कर रहा था। शिक्षक के प्रश्न पूछने पर वह घबड़ा गया। वह ठीक से उत्तर न दे सका और खूब पीटा गया। तभी से वह हकला हो गया। एक हकले ने कहा कि उसके मास्टर कक्षा में उससे बार-बार प्रश्न पूछते थे। वह जवाब नहीं देना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि वह न बोले। उसे अनायास हकलापन आ गया। किसी भयानक घटना को कहते समय बालक हकलाने लगता है। फिर वह घटना भूल जाता है और हकलाहट आ जाती है। यहाँ ध्यान देने की बात इतनी है कि बालक का भीतरी मन जब बोलना नहीं चाहता और बाध्य होकर उसे बोलना पड़ता हैं तब उसका भीतरी मन अड़ंगा डालने लगता है। प्रारंभिक स्थिति ऐसी ही होती कि बात को कहने से बालक के स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है अथवा उसे दुख होता है। फिर यह भाव उसके अनजाने मूल घटना के भूल जाने पर नई-नई परिस्थितियों पर आरोपित होता रहता है। अब यदि बालक की पुरानी स्मृतियों को जाग्रत किया जाय तो पुरानी घटना से सम्बन्धित आवेग समाप्त हो जाय और हकलाहट भी समाप्त हो जाय। इसलिये जितना ही हकले व्यक्ति से उसके अतीत के विषय में बातचीत की जायगी उसे लाभ उतना ही होगा।

हकलाहट की समाप्ति मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास से भी होती है। हकला व्यक्ति सदा मानसिक खिंचाव की अवस्था में रहता है। मानसिक शैथिलीकरण से यह खिंचाव सहज रूप से कम हो जाता है। फिर भूली हुई अप्रिय घटनायें अपने आप स्मृति पटल पर आजाती हैं। इससे उसे लाभ होता है। मानसिक शैथिलीकरण में मन के प्रति साक्षी भाव रखते हुए, मनको इधर-उधर घूमने की छूट देदी जाती है। शरीर को शान्त भाव में रखने से यह साक्षी भाव सरलता से आ जाता है। इस प्रणाली से जिस प्रकार दूसरे मानसिक रोग अच्छे होते हैं हकलापन भी अच्छा होता है।

मानसिक शैथिलीकरण करते समय रोगी को बहुत से प्रबल आवेगों का अनुभव होता है। वह कभी-कभी ऊपर से गिरने का भय देखता है। कभी मारे पीटे जाने का अनुभव करता है। कभी-कभी ऐसा रोगी हिस्टीरिया के फिट में

आये रोगी के समान रोता है। इस प्रकार उसके द्वेष भावों का रेचन होजाता है।

हकलानेवाला व्यक्ति समाज से बहुत डरता है। वह सोचता है कि सभी लोग उसका तिरस्कार करते हैं। इस मनोभाव के कारण उसका रोग और भी बढ़ जाता है। सभी लोगों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने से यह रोग कम हो जाता है। उसे अपनी कल्पना में यह सोचने की आदत डालनी पड़ती है कि उसके बोलने पर दूसरे लोग हँसी न कर उसकी प्रशंसा ही करते हैं। हमारे एक रोगी ने इसी भाव के अभ्यास से अपने हकलेपन को हटा दिया।

हकले व्यक्ति को बोलने में अपने से बड़े लोगों के प्रति ही अधिक भय होता है। इन लोगों के मन में पिता के अथवा बड़े भाई के प्रति द्वेष की भावना रहती है। यदि इस भावना की समाप्ति कर दी जाय तो रोग नष्ट हो जाय। पिता अथवा बड़े भाई का भय समाज के भय में रूपान्तरित हो जाता है। जैसे-जैसे हकले व्यक्ति को जीवन में सफलता मिलती है और वह अपने काम के लिये समाज से प्रशंसा प्राप्त करने लगता है उसका समाज के प्रति द्वेष का भाव समाप्त हो जाता है। द्वेष मनुष्य के मन में हीनता का भाव लाता है और स्नेह आत्म-विश्वास का। समाज का स्नेह सच्ची समाज सेवासे ही प्राप्त होता है। अतएव समाज की लगन के साथ सेवा करनेसे हकलेपन का अन्त होता है।

हकले व्यक्ति को सभी लोगों से शान्त भाव से बातचीत करने का अभ्यास करना आवश्यक है। इस प्रकार का अभ्यास आत्म-निर्देश बन जाता है। शान्तभाव से बोलने में हकलाहट नहीं होती। हकले व्यक्ति को प्राय बच्चों से बातचीत करते समय हकलाहट नहीं होती। ऐसे व्यक्ति को पढ़ाने का काम करने से विशेष लाभ होता है।

हकलेपन के साथ-साथ दूसरे रोग भी व्यक्ति को होते हैं। चिड़चिड़ापन, हृदय की धड़कन, घबड़ाहट, सिर की पीड़ा, हठीलापन, कामकुटेव आदि बातें हकलेपन के सहगामी हैं। हकले व्यक्ति में मानसिक उद्विग्नता अधिक होती है। सदा निराशा और अशान्ति का भाव बना रहता है। ये सहगामी त्रास देनेवाले तत्व हकलाहट के साथ-साथ समाप्त हो जाते हैं। हकलाहट के उपचार में पहले शान्तभाव, आशावादिता मैत्री-भाव आते हैं। हठ और घबड़ाहट में कमी होती है। पीछे हकलापन जाता है। हकलेपन को हटाने के यत्न करने के बदले उसके प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करने अथवा उससे उदासीन होने से यह रोग जितनी जल्दी जाता है उतनी जल्दी दूसरे प्रकार नहीं जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान हमें बताता है कि कोई रोग केवल पुराने संस्कारों का परिणाम मात्र नहीं होता वरन् उसका जीवन विकास में कोई अर्थ होता है।

जिस प्रकार हिस्टीरिया का लकवा किसी उद्देश्य के साधन के लिये होता है हकलाहट भी किसी उद्देश्य के लिये होता है। यह उद्देश्य की प्राप्ति का विकृत मार्ग है। जब भीतरी मन को उद्देश्य प्राप्ति का योग्य मार्ग मिल जाता है तब विकृत मार्ग की आवश्यकता नहीं रहती। आत्म-विश्वास के अभाव में हकलाहट की शरण ली जाती है। जब आत्म-विश्वास की वृद्धि होने पर आत्म-प्रकाशन का योग्य मार्ग खुल जाता है, हकलाहट की आवश्यकता नहीं रहती। और यह रोग समाप्त हो जाता है।

२—बुरे विचार ही मन को क्यों पकड़ लेते हैं

एक व्यक्ति लिखता है 'जब कभी मैं पढ़ता हूँ कि विचार की ताकत महान है, जो कुछ हम सोचते हैं वह सरल हो जाता है; तो मुझे विचार आता है कि मुझे हृदय का रोग हो जायगा और उससे मेरी मृत्यु हो जायगी क्योंकि मैं भी कभी सोचता हूँ कि हमें हृदय का रोग है। इस प्रकार सोचने से यदि रोग नहीं भी है तो भी हो जायगा ऐसा हमें भय होता है। दूसरे व्यक्ति की अचानक मृत्यु का समाचार सुनकर मेरे मन में भी विचार आता है कि मेरी भी ऐसी ही मृत्यु हो जायगी।—ऐसे विचारों से कैसे छुटकारा मिले'?

जिस व्यक्ति का मन आन्तरिक संघर्ष के कारण दुर्बल हो जाता है उसके मन में अपने भविष्य के विषय में अकल्याणकारी विचार ही आते हैं। उसके अशुभ निर्देश प्रबल और शुभ निर्देश निर्बल होते हैं। ऐसे लोगों के मन में अपराध की भावना ग्रन्थि रहती है। उन्हें किसी प्रकार के दण्ड की आवश्यकता रहती है। दण्ड के मिलने पर यह भावना समाप्त होती है। यह भावना मनोविश्लेषण और आत्म-स्वीकृति से भी समाप्त होती है। मनुष्य का अभिमान आत्म-स्वीकृति की अपेक्षा दण्ड भोगना ही उचित समझता है अतएव बुरे विचार ही ऐसे लोगों को त्रास देते रहते हैं। वे मित्र में शत्रु और भलाई में बुराई देखने लगते हैं। ऐसे लोग सभी लोगों की सचाई में सन्देह करते हैं। अपराध की भावना जब तक भीतरी मन में बनी रहती है बुरे विचार नहीं जाते। इसके समाप्त होने पर बुरे विचार मनुष्य के मन में घर नहीं करते।—संपादक

किशोर बालकों की जटिल समस्या

किशोर बालकों की सबसे जटिल समस्या कामवासना सम्बन्धी है—इनमें काम कुटेव और स्वप्नदोष मुख्य हैं। जिन बालकों को पहले लाड़-प्यार से रखा गया हो फिर जब वे ताड़नामें रहने लगते हैं तो उन्हें ये दोनों लग जाते हैं। स्नेह के अभाव की पूर्ति बालक कामकुटेव से करता है और वह जब इससे मुक्त होता है तो स्वप्नदोष से पीड़ित हो जाता है। जब इनकी भयंकरता के विषय में वह किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का कुछ लेख पढ़ लेता अथवा भाषण सुन लेता है तो वह घबड़ा जाता है और उसका रोग भयंकर रूप ले लेता है। फिर उसे कब्जियत, कोष्ठबद्धता, हृदय की धड़कन, प्रमेह, आँख की ज्योति की कमी और स्मरण शक्ति के ह्रास के रोग हो जाते हैं। ये सभी रोग चिन्ता और डरके कारण होते हैं। जैसे जैसे चिकित्सा होती जाती है रोग बढ़ते जाते हैं। बालक फिर जीवन से ही निराश हो जाता है।

इन रोगों के उपचार के लिये प्रथम आवश्यकता इनके विषय में अनासक्त होने की है। बालक को बताना चाहिये कि बातें सभी के जीवन में होती हैं और वे अकेले ही इसके भोगी नहीं हैं। दूसरे बालक की शक्ति रचनात्मक कामों में और शारीरिक श्रममें लगानेकी आवश्यकता है। तीसरे उसको अपनी बातें दूसरों को सुनाने का अवसर मिलना चाहिये। सुननेवाला उसे प्रोत्साहित करता जाय। निराशा की मनोस्थिति में ही सभी रोग बढ़ते हैं और आशा की मनोस्थिति में वे समाप्त हो जाते हैं। समाज में ऐसे अनेक लोग होने चाहिये जिन्हें बिना भय के अपनी सभी बातें बालक सुना सकें और उनसे उचित परामर्श ले सकें। चौथे कामवासना से पीड़ित सभी बालक स्नेह के भूखेरहते हैं। जब बालक को स्नेह मिलने लगता है तो वासना अपने आप नियंत्रण में आ जाती है। पाँचवे बालक को किसी ऐसे बाहरी काम में लग जाना चाहिये जिसमें उसे सफलता मिले। सफलता की मनोवृत्ति सफलता लाती है और विफलता की विफलता। फिर मनुष्य में आत्म-विश्वास पहले बाहरी बातों में होता है फिर भीतरी में। लौकिक सफ़लता आत्म नियंत्रण में सहायक होती है। जैसे मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ता है कामवासना सम्बन्धी बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं। काम कुटेव और स्वप्न दोष एक दूसरे के पूरक हैं। जब काम कुटेव द्वारा वीर्य का ह्रास होना बन्द हो जाता है तब वह स्वप्न दोष से नष्ट होने लगता है। काम कुटेव भी एक रोग माना गया है। इसे बाध्य क्रिया कहा जाता है। काम कुटेव अचेतन मन की क्रियाओं का अन्तिम परिणाम है। जब व्यक्ति को किसी

ऐसे व्यक्ति के प्रति कामासक्ति हो जाती है जो नैतिकता के प्रतिकूल है तो विशेष प्रकार की मानसिक क्रियायें उसके अचेतन मनमें चलने लगती हैं। इनके परिणाम स्वरूप ही व्यक्ति को अनायास कामोत्तेजना होती है और उसे कुटेव में पड़ना पड़ता है। जब वह यह क्रिया नहीं करता तो स्वप्न में वह उन्हीं बातों को चरितार्थ करने लगता है जिसमें उसका मन आसक्त हो गया है।

इस प्रकार के रोगी अपने रोग से बहुत परेशान रहते है। क्योंकि बार-बार के संकल्प के बाद भी जब अवसर आता है तो वे अपनी काम कुटेव में लगही जाते हैं। रोगी को अच्छा करने के लिए सर्व प्रथम उन्हे उस परेशानी और घबराहट की मनोवृत्ति से हटाना आवश्यक है। इस प्रकार के अन्य व्यक्तियों की जीवनी पढ़ने से उन्हें विश्वास होता है कि वे भी ठीक हो सकते हैं। विश्वास उत्पन्न कराने के लिए रोगी से स्नेह और सहानुभूति पूर्वक बात चीत करनी पड़ती है। स्नेह के अभाव से ही व्यक्ति अविश्वासी और निराशा-वादी हो जाता है। चिकित्सक का दिया गया स्नेह कालान्तर में आत्म-विश्वास के रूप में परिणत होता है। इस स्नेह के वातावरण में चिकित्सक से वे अपनी काम-कुटेवों की चर्चा करते हैं और इसमें उनका मस्तिष्क हलका हो जाता है।

आनापान सति का अभ्यास ऐसे रोगियों के लिए बड़ा ही कल्याणकारी साबित हुआ है। रोगी अपने शरीर को ढीला कर चित्त लेट जाता है और सोचता है कि उसका शरीर शान्त हो रहा है। इस समय रोगी अपना ध्यान अपने श्वास-प्रश्वास पर केन्द्रित करता है। इस अवस्था में उसके दमित मनो-भाव चेतना की सतह पर आते हैं और रोगी स्वास्थ लाभ करता है। रोग से छुड़ाने के लिये व्यक्ति का मनोविश्लेषण और उसके द्वारा आत्मनिर्देश का भी अभ्यास कराना आवश्यक है। उसे अपनी शक्ति को रचनात्मक कार्यों में भी लगाना चाहिये। जब किसी व्यक्ति की काम शक्ति का उदात्तीकरण हो जाता है तो वह कुमार्ग से प्रवाहित नहीं होती।

सीताराम जायसवाल एम० ए०

धर्म की आवश्यकता

मनुष्य का सामान्य स्वत्व सीमित है परन्तु उसकी आन्तरिक इच्छा असीम बनने की है; मनुष्य अपने आपको परतंत्र और परिस्थितियों का दास पाता है परन्तु वह स्वतंत्र और परिस्थितियों का स्वामी बनना चाहता है। वह अपने आपको त्रुटि पूर्ण देखता है, परन्तु वह अपने आपको पूर्ण रूप में देखना चाहता है। ये बातें पारस्परिक विरोधी हैं। परतंत्र, सीमित और अपूर्ण कैसे स्वतंत्र असीम और पूर्ण बन सकता है। अतएव वह इन तत्वों की कल्पना पहले-पहले अपने आपसे बाहर करता है। परन्तु वह उसका आरोपण मात्र है। जिस प्रकार मनुष्य अपने से बाहर दोषारोपण करता है उसी प्रकार वह गुणों का भी आरोपण करता है। इस क्रिया को आदर्शी करण कहा गया है। आरोपण अचेतन मन की क्रिया है। इसका अपना ही जीवन के विकास में उपयोग है। यदि यह क्रिया न हो तो मनुष्य आत्म-विनाश करले। आरोपण के परिणाम स्वरूप मनुष्य के दोष और गुण अव्यक्त के स्वर में आते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने आपको जानता है। अतएव धर्म और उसके प्रतीकों द्वारा मनुष्य अपनी अन्तरात्मा में निहित पूर्णता का ज्ञान करता है।

धर्म के कारण मनुष्य नैतिक नियंत्रण में सरलता से रहता है। धर्म स्वान्तः सुखाय का मार्ग है। धर्म के विना नैतिकता व्यवहार कुशलता, अवसर वादिता अथवा सुविधावाद बन जाती है। आज संसार में नैतिकता का कोई माप दण्ड रह ही नहीं गया। अतएव अब मनुष्य को सर्व-विनाश के भय के अतिरिक्त बुरे कामों से रोकने का कोई साधन ही नहीं रह गया।

धर्म मनुष्य के अनेक मानसिक रोगों को सरलता से शान्त कर देता है। मानसिक रोग के प्रधान कारण दो ही होते हैं—निर्बलता का भाव और स्नेह का अभाव। इन दोनों की समाप्ति किसी ऐसे तत्व में विश्वास होने से हो जाती है जो सर्वशक्तिमान है और जो सर्वप्रिय है। जब हम इसे अन्तर्यामी के रूप में जानते हैं तब रोगों की आवश्यकता नहीं रहती।

सभी धर्म लौकिक-सुख और सम्मान के त्याग का पाठ पढ़ाते हैं चाहे धर्म ईश्वर वादी हो अथवा अनीश्वर वादी। इच्छाओं की वृद्धि से ही मानसिक रोग और सांसारिक कलह की वृद्धि होती है। जब इच्छाओं को सीमित रखा जायगा तब न तो मानसिक रोगों की आवश्यकता होगी और न बड़े-बड़े विश्व युद्धों की।

—प्रणवीरसिंह चौधरी एम० ए० रिसर्च स्कालर

व्यावहारिक ज्ञान

मनुष्य का निर्माण चेतना और शरीर दोनों के संयोग से हुआ है। मनुष्य के विकास का अर्थ है उसकी बौद्धिक और शारीरिक अवयवों का विकास और उनमें पूर्ण सामंजस्य। तभी हम समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं जब कि हमारे बुद्धि और हृदय में पूर्ण एकता हो। बुद्धि और हृदय की एकता हमारे बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान की एकता से संभव है। अब प्रश्न यह होता है कि बुद्धि और हृदय की एकता किस प्रकार स्थापित की जाय।

पाश्चात्य देशों में बुद्धि और व्यवहार दोनों की शिक्षा समान रूप से देखी जाती है। इस बात में पश्चिम, पूर्व की अपेक्षा अधिक सभ्य है। आज भारत की अवस्था निराली है। यहाँ के स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों में ऐसी शिक्षा का अत्यन्त अभाव है। भारत के नवयुवक जब इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन में उपाधि लेकर विद्यालयों से निकलते हैं तो उन्हें ज्ञान नहीं होता कि अब उन्हें क्या करना है। आख़िर, उनका भविष्य क्या होगा ? वे अपने ज्ञान का किस प्रकार सामाजिक कार्यों में उपयोग करें जिससे उनका और समाज दोनों का हित हो। यह उनके सामने एक गम्भीर समस्या के रूप में आती है, जिसका समाधान उन्हें किसी ओर भी दिखायी नहीं देता। ज्ञान और व्यवहार की जितनी चौड़ी और गहरी खाँई आज दिन भारत के नवयुवकों में है उतनी कहीं भी देखने को नहीं मिल सकती। व्यवहारिक ज्ञान के अभाव में वे निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गए हैं। इस प्रकार राष्ट्र की कितनी अपार क्षति हो रही है, इसका अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हमारे जीवन की इस अव्यावहारिकता का प्रभाव मस्तिष्क पर बहुत ही बुरा पड़ता है। नवयुवक यथार्थ से दूर होकर कोरे आदर्शवादी हो जाते हैं। वे व्यर्थ की कल्पनाओं और गल्पों में समय काटकर देश के रचनात्मक कार्यों के लिए बिलकुल अयोग्य सिद्ध होते हैं। व्यर्थ चिंतन के कारण उनकी शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का ह्रास होता है। उनके मन के भीतर विक्षिप्तता आ जाती है जिसके कारण उनका सारा जीवन एक बोझ सा हो जाता है। हमारे भारत के नवयुवकों में इसी प्रकार की विक्षिप्तता व्याप्त है। इसी का परिणाम यह है कि भारतीय नवयुवक विज्ञान और प्राविधिक कार्यों में उतना मन नहीं लगाते। एक तो उनके पास साधन का अभाव है दूसरे उनके चारो ओर इस प्रकार का वातावरण होता है कि बाध्य होकर उन्हें विज्ञान छोड़ना ही पड़ता है। मुख्य कारण यह नहीं कि उनकी विज्ञान में अभिरुचि

नहीं होती वरन् इसलिए कि व्यवहार से उनकी बुद्धि पलायनवादी होती है।

मनुष्य के व्यवहारिक ज्ञान में अपूर्ण होने का बहुत कुछ कारण मनोवैज्ञानिक ज्ञान का अभाव भी है। हम अपने जीवन में कुछ ऐसे कृत्य किए रहते हैं जो हमें बिलकुल ही आदर्शवादी बना देता है। हमारे मन के भीतर उसके कारण खिंचाव उत्पन्न हो जाता है जो हमें किसी भी व्यवहार में जाने से अनजाने में रोकता रहता है। इसकी जड़ चेतना से दूर अचेतन मन में होती है। हमें ऐसा प्रतीत होगा कि परमात्मा ने हमारा जीवन केवल चिंतन के लिए ही दिया है। हमसे कोई रचनात्मक कार्य नहीं हो सकता। पर वास्तव में बात बिलकुल ही विपरीत होती है। यदि ऐसे मनुष्यों को मानसिक रोग से मुक्त कर दिया जाय तो वे बड़े ही व्यवहार कुशल सिद्ध होते हैं। एक हमारे मित्र हैं जो पहले विज्ञान के विद्यार्थी थे। उन्होंने कभी भी प्रथम श्रेणी को छोड़ द्वितीय श्रेणी में परीक्षा नहीं पास की। पर जब वे प्रयोगशाला में विज्ञान संबंधी प्रयोग के लिए जाते थे तो उन्हें अकारण भय उत्पन्न होता था। मारे भय के उनके शरीर से पसीना निकलने लगता था, बड़ी तेजी से पेशाब भी लगता था। उन्हें सर्वदा भय लगा रहता था कि कहीं प्रयोगशाला ही में उन्हें पेशाब न हो जाय। इस भय के कारण उन्हें विज्ञान की पढ़ाई छोड़कर कला की ओर उन्मुख होना पड़ा। पर रोग का मूल कारण ज्ञात नहीं हुआ था। उन्होंने कला, के विषयों में भूगोल और मनोविज्ञान लिया। यहाँ भी वही समस्या उनके समक्ष उपस्थित हुई। भूगोल में नक्शा बनाते समय अथवा और भी प्रयोगात्मक कार्य करते समय वही भय उनके सामने आ जाता था। मनोविज्ञान के विषयो में साधारण मनोविज्ञान और असाधारण-मनोविज्ञान पढ़ने में उन्हें कुछ भी कठिनाई नहीं होती थी पर ज्योंही वे व्यवहारिक मनोविज्ञान की पुस्तक उठाते थे उन्हें एक प्रकार के अजीब भय का अनुभव होता था। सारे शरीर से पसीना निकलने लगता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक कारणों के कारण भी कभी-कभी मनुष्य व्यवहारहीन हो जाता है। मनोविश्लेषण से पता लगा कि उक्त मित्र महोदय मन से काम-वासना का चिंतन करते थे, पर अपनी कोरी आदर्शवादिता के कारण उन्होंने इसे व्यवहार में कभी नहीं परिणत किया था। एक बार ऐसा करने को वे उद्यत हुए तो उनके नैतिक मन ने इसका दमन किया। इसके कारण कामवासना का दमन हुआ। इसके परिणामस्वरूप उन्हें किसी भी व्यावहारिक कार्य से प्रतीक रूप में भय होने लगा। जब मनोविश्लेषण से उन्हें उक्त रोग का कारण ज्ञात हुआ तो उनका सारा रोग चला गया।

—जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव एम० ए०

शिक्षा में प्रजातंत्र

सबसे महत्व पूर्ण और विचारणीय प्रश्न तो यह है कि प्रजातंत्र से तात्पर्य क्या है ? पहले तो यह केवल राजनीति तक ही सीमित था। साधारणतः लोग इसका अर्थ सरकार और जनता के सम्बन्ध से ही लगाते थे और कहते थे कि 'प्रजातंत्र जनता की सरकार है तथा जनता के द्वारा जनता के लिये ही बनाई जाती है'। प्रजातंत्र का यह अर्थ अपूर्ण सा प्रतीत होता है। यथार्थ में यह जीवन का आदर्श होना चाहिये जिसे अंगीकार कर तथा कार्य रूप में परिणित कर हम जीवन अधिक सुखी और सम्पन्न बनाने में समर्थ हो। यह हमें इस योग्य बनाये कि हम आर्थिक-शोषण, धार्मिक-असहिष्णुता, जाति-द्वेष, वर्ग-भेद इत्यादि को दूर कर सके।

इस प्रकार प्रजातंत्र के व्यापक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। वह अपनी प्रारम्भिक असभ्य जीवन-प्रणालीका दास न हो। वह अज्ञान, विद्वेष और रूढ़ि से मुक्त हो। वह सब कुछ वैसा ही न करे वैसा उसके पूर्वज कर चुके हैं वरन् सोचे, समझे और अपने ढंग से कार्य करे। उसे वाणी और विवेक की स्वतंत्रता प्राप्त हो ताकि वह मानव जीवन से सम्बन्धित समस्यायों को समझने व उनका हल निकालने में सफल हो सके। किन्तु यहाँ -'व्यक्ति की स्वतंत्रता' से यह अर्थ नही कि वह 'पूर्ण स्वच्छंद' है और उसे दूसरों के हितों का ध्यान नहीं रखना है। इससे तो समाज में और भी अव्यवस्था व अराजकता फैल जायगी।

स्वतंत्रता के पीछे वास्तविक भावना यह है कि व्यक्ति समाज के द्वारा समाज के लिये ही उन्नति करे। अधिकार और कर्तव्य साथ-साथ चलते हैं अतः व्यक्ति विशेष के अधिकार और सुविधायें दूसरों के अधिकारों और सुविधाओं से सम्बन्धित हैं। स्वतंत्र व्यक्ति में स्वतंत्र-बुद्धि, विस्तृत - ज्ञान, व्यापक-मन, स्वयं अनुशासन तथा गहरी जिम्मेदारी की भावना रहती है अतः कार्य करने से पहले वह अपनी भलाई के साथ-साथ समाज के अन्य लोगों के हितों का भी ख्याल करता है।

प्रजातंत्र में सब समान रहते हैं। समाज में किसी प्रकार के वर्ग, धर्म अथवा लिंग का भेद-भाव नहीं रहता। इसका अर्थ है कि मनुष्य एक दूसरे के प्रति दया, प्रेम, सहानुभूति, सहायता तथा बन्धुत्व की भावनायें रखे। इसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिये समान अवसर व सुविधायें प्राप्त होगी। यहाँ समानता से यह मतलब नहीं कि बिना

व्यक्तिगत योग्यताओं का ध्यान रखे सबको एक सरीखे अवसर देना। उदाहरण के लिये समाज में व्यक्तिगत विभिन्नतायें होती है और यदि एक बुद्धिमान और एक मंद बुद्धि-व्यक्ति को एक समान अवसर दिये गये तो परिणाम यह होगा कि मंद बुद्धि वाला व्यक्ति उस अवसर का लाभ नहीं उठा सकेगा। यहाँ अवसर की समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार अवसर दिया जाय।

आरम्भ में लोग एकान्त और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे किन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ वे एक दूसरे पर अधिक निर्भर होते गये और सामाजिक जीवन व्यतीत करने लगे। प्रजातन्त्र सहकारिता पर आधारित सामाजिक जीवन में विश्वास करता है। सफल सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों के उद्देश्य और आदर्श समान हों तभी वे एक साथ रह सकते हैं। समाज के विभिन्न सदस्य एक दूसरे के हितों का ख्याल रखें और एक साथ कार्य करें। प्रत्येक व्यक्ति समाज की सामान्य भलाई के लिये कार्य करे। समाज में व्यक्ति और समूह का परस्पर स्वतन्त्र सम्बन्ध हो जिससे सामाजिक व्यवहार का निर्माण हो। इस प्रकार समान हित, उद्देश्य व आदर्श तथा स्वतन्त्र पारस्परिक सम्बन्ध सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं।

जीवन अस्थिर है। यह सतत् रूप से बदल रहा है। 'परिवर्तन' जीवन में उन्नति का आवश्यक लक्षण है। प्रजातन्त्र में यह परिवर्तन बाहर के दवाव से अथवा अधिकारियों की शक्ति द्वारा नहीं लाया जा सकता बल्कि व्यक्तियों के द्वारा स्वयं अनुभव की गई आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप यह आ ही जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र में इन सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

अनिवार्य शिक्षा

यों तो हर प्रकार के राज्य में नागरिकों का शिक्षित होना आवश्यक है परन्तु प्रजातन्त्र में शिक्षा की विशेष महत्व है। बिना समुचित शिक्षा के सुदृढ़ प्रजातन्त्र संभव ही नहीं। जैसा कि अब्राहन लिंकन ने लिखा है कि शिक्षा के बिना प्रजातन्त्र मूर्खों का, मूर्खों द्वारा तथा मूर्खों पर शासन है। प्रजातन्त्र में सरकार 'जनमत' के आधार पर बनाई जाती है इसलिये आवश्यक है कि प्रजातन्त्रीय राज्य का प्रत्येक सदस्य शिक्षित हो ताकि वह सरकार के प्रति अपने अधिकार और कर्तव्यों का पालन कर सके। उचित शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही व्यक्ति वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। शिक्षा द्वारा ही वह अपनी मौलिक प्रवृत्तियों, अज्ञान इत्यादि से मुक्ति पा सकता है। इस

प्रकार राज्य के प्रत्येक सदस्य की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा पर प्रजातन्त्रीय सरकार की सफलता निर्भर है।

अवसर की समानता

प्रजातन्त्र में विना किसी जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के सभी व्यक्ति समान रहते हैं। अतः समाज के सभी सदस्यों को उनकी योग्यताओं के अनुसार विकास के लिये समान अवसर मिलना चाहिए। चूँकि मनुष्यों की योग्यताओं में व्यक्तिगत अन्तर होता है, इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक को उसकी योग्यता विशेष के अनुसार अवसर मिलना चाहिये। इस प्रकार छात्रों को शिक्षा देते समय शिक्षकों को चाहिये कि वे उनके व्यक्तिगत अंतर को पहचानें और उनकी योग्यतानुसार उन्हें शिक्षा दें।

सबको निःशुल्क शिक्षा

जब प्रजातन्त्र सबको अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करता है और प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देता है तो स्वाभाविक है कि शिक्षा निःशुल्क हो ताकि प्रत्येक व्यक्ति उसका लाभ उठा सके। न केवल सामान्य शिक्षा वरन विशिष्ट औद्योगिक शिक्षा भी निःशुल्क दी जानी चाहिये। यद्यपि हम जानते हैं कि यह देश विशेष में उपलब्ध साधनों पर निर्भर है किन्तु कम से कम प्राथमिक अवस्था तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की आवश्यकता को कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। इस प्रकार सब नागरिक राज्य के कार्यों में भाग लेने की योग्यता प्राप्त कर सकेंगे।

प्रजातंत्र में न तो व्यक्ति और न समाज को ही एक दूसरे पर प्रधानता दी जाती है। इसके विपरीत दोनों का समान महत्व है। वे आपस में विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार शिक्षा ऐसी हो जो मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताओं के साथ सामाजिक-कल्याण का भी ध्यान रखे। व्यक्ति समाज की भलाई के लिये विकास करें।

अध्यापकों व छात्रों की स्वतन्त्रता

'प्रजातंत्र' समाज के कल्याण के लिये व्यक्तित्व का विकास करता है अतः यह आवश्यक है कि शिक्षक और छात्र, दोनों को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। शिक्षकों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो। उन्हें छात्र-विशेष की उन्नति और विकास करने के लिये स्वयं अपने तरीके व साधन ढूँढ़ निकालने तथा उन्हें अपनाने की आज़ादी होनी चाहिये। इस क्षेत्र में बाहर से हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। साथ ही शाला के शासन में भी शिक्षकों को उचित हिस्सा मिलना चाहिये।

स्वतंत्रता का सिद्धान्त छात्रों पर भी लागू होता है। छात्रों को अपनी अपनी प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं और योग्यताओं के अनुसार विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। बच्चों का विकास सर्वांगीण हो जैसे शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक। शिक्षा बालक में केन्द्रित हो जिससे यह न केवल व्यक्ति के लिये उपयोगी हो वरन समाज का भी कल्याण करे। शिक्षक केवल मार्ग-दर्शक का कार्य करे तथा उन पर अपनी इच्छा का दबाव न डाले।

शिक्षा-प्रबंध में विकेन्द्रिय करण

प्रजातंत्र में मतों और विचारों का स्वतंत्र आदान प्रदान होता है और सत्ता विकेन्द्रित होती है। राज्य का पूर्ण नियंत्रण नहीं रहता। निजी उपक्रम को शिक्षा-प्रबंध में उचित महत्व दिया जाता है तथा सभी मामलों में समाज के साथ पूर्ण सहयोग किया जाता है।

प्रजातंत्र में शिक्षा सांस्कृतिक सिद्धान्तों पर आधारित रहती है। यद्यपि कुछ सीमा तक यह भौतिकवादी व उपयोगितावादी है किन्तु यह जीवन की महान भावनाओं जैसे सत्य, शिव व सुन्दर पर भी जोर देती है। यहाँ शिक्षा व्यक्ति को केवल आर्थिक दृष्टि से ही स्वयं पूर्ण नहीं बनाती वरन् उसे इस योग्य बनाती है कि वह पवित्र, उच्च और महान जीवन व्यतीत कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा में प्रजातंत्र एकीकरण के सम्पूर्ण दोषों को दूर करता है और जीवन में अपनाने योग्य सभी अच्छी बातों का समावेश करता है। अतः प्रजातन्त्रीय आदर्श शिक्षा की सभी बातों जैसे उसके उद्देश्य, पद्धति, पाठ्यक्रम और प्रबन्ध का आधार होना चाहिये।

—श्रीशमसुद्दीन, बी० ए०, एम० एड०

अव्यवस्थित बालकों का सुधार

बालक अपने सम्मान पर विशेष ख्याल नहीं करता है। चाहे उसे कोई सम्मान दे या न दे। लेकिन बालक प्रेम को बहुत शीघ्र ही समझ जाता है। बालकों का हृदय नितान्त कोमल रहता है। इन्द्रियों का समुचित विकास न होने से बौद्धिक चातुर्य बालकों में कम होता है। उनमें सहज प्रेम का भाव होता है। यह प्रेम निर्मल तथा कोमल हृदय का देन है।

दुर्भाग्यवश जिन बालकों को बचपन में प्रेम नहीं मिला है वे न तो बौद्धिक प्रगति में सफल हो पातें हैं और न सुख पूर्वक व्यवस्थित जीवन व्यतीत कर पाते हैं। सुख के सभी भौतिक साधन प्राप्त होने पर भी वास्तविक सुख से वञ्चित रहते हैं। इस विषय में हम कुछ ऐसे बालकों का दृष्टान्त देंगे जिनके साथ मेरा कई वर्षों का सम्बन्ध रहा।

महाबीर नाम का एक पारसी लड़का मेरा मित्र था। जब वह एक साल का था तभी उसके माँ की मृत्यु हो गई। अतः उसके पिता ने दुबारा शादी किया और उस स्त्री से कई सन्तान हुए। बचपन में ही महावीर को माता-पिता का प्रेम न मिला। सौतेली माँ उसे अपना शत्रु समझती थी। बम्बई में भोलेश्वरस्थ पंचमुखी हनुमानजीके मन्दिर में उसके साथ मेरा पहला प्रेम हुआ। और तभी से उसके साथ मेरी मैत्री हुई। वह शरीर का सुन्दर तथा स्वभाव का बड़ा ही नम्र था। मैं उसकी नम्रता से अत्यन्त प्रभावित था। घर की ओर से उसे प्रेम न मिलने के कारण जब कभी उसे समय मिलता तो मेरे पास आ जाता था। उस समय हम लोगों की मैत्री पर लोगों ने शक करना प्रारम्भ किया। मैंने इसकी परवाह न की। और प्रेम का प्यासा महाबीर जब कभी मेरे सामने आता था तो परवश मेरा हृदय द्रवीभूत हो जाया करता था। कई वर्षों तक मेरा उसका सम्बन्ध बना रहा। मेरे अविभावक गण मेरे अन्य मित्रों के शिकायत करने पर मुझे कई बार सतर्क किये। लेकिन उसके साथ मेरा पवित्र प्रेम भाव था। घर की व्यवस्था के कारण वह सदा दुखी रहा करता था। मुझसे कभी-कभी कहा करता था कि मैं मैट्रिक पास करने के पश्चात् बम्बई नहीं रहूँगा। बम्बई अब मुझे अच्छा नहीं लगता है। किसी अन्य शहर में जाकर कोई नौकरी कर लूंगा और स्वतन्त्र रहूँगा। घर के लोग मुझे चाहते ही नहीं।

अन्त में महावीर मानसिक अशान्ति के कारण मैट्रिक परीक्षा में सफल न हो सका। पिता ने उसे बहुत डाँटा और माँ ने तो खर्च देने से साफ इन्कार कर दिया। वह मेरे पास आया और घर की सारी व्यथा सुनाई। मैंने उसे

सहायता के लिए प्रेमपूर्वक आश्वासन दिया। महाबीर को पाकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई कि अब हम दो हो गये। साल भर तक मैंने उसका सारा खर्च सँभाला और उसके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार रखा। समय निकल जाता है लेकिन अच्छे या बुरे व्यवहारों से हृदय में जमा हुआ संस्कार शीघ्र नहीं मिटता है। कभी-कभी महात्मा तुलसीदासजो का एक वाक्य मेरे हृदय को द्रवीभूत कर देता है। (तुलसी मीठे बचन से सुख उपजत चहुँ ओर, बशीकरण यह मन्त्र है परिहर बचन कठोर) अस्तु, महावीर मैट्रिक परीक्षा में सफल हुआ और पढ़ाई छोड़कर व्यवस्थित रूप से अपना व्यापार प्रारम्भ किया। कभी बम्बई से वह घृणा करता था; आज उसी बम्बई में वह एक व्यवस्थित नागरिक जीवन व्यतीत कर रहा है। यदि उसके साथ प्रेम का बर्ताव न किया जाता तो सम्भव है कि उसकी मानसिक अशान्ति उसके जीवन को विक्षिप्त कर देती।

दूसरा व्यक्ति जिससे मेरा सम्बन्ध बम्बई में लगभग पन्द्रह-बीस साल तक था वह मध्यभारत का रहनेवाला है। वह बी० ए० है तथा हिन्दी की भी दो परीक्षायें पास है। लेकिन सदा विक्षिप्त रहा करता है। पूछने पर यही उत्तर दिया करता है कि मुझे माँ का प्यार नहीं मिला। बचपन में माँ मर चुकी थी। घर की आर्थिक स्थिति कोई अच्छी नहीं थी। पिता क्रूर स्वभाव का और दुर्व्यसनी था। पिता के अनादर के कारण अठारह साल की अवस्था में वह घर से भागा और मथुरा में जाकर प्राइवेट इण्टर की परीक्षा दी। इसके बाद आगरा विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया और वहीं रहकर हिन्दी की दो परीक्षायें दीं। आज उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। लेकिन हर बातों में उसका व्यवहार बच्चों जैसा रहता है। शादी नहीं किया इसलिये और भी विक्षिप्त रहता है। शादी के विषय में बात चलाने पर चिढ़ जाया करता है। अपने को स्वयं आदर्श व्यक्ति समझता है। इस प्रकार आज उसका जीवन नैराश्यता में पल रहा है। प्रेम के अभाव से उसका जीवन अव्यवस्थित बन गया। अधिक प्रयत्न से भी उसमें परिवर्तन होना असम्भव सा हो गया है।

इसी प्रकार रणछोड़ नाम का एक व्यक्ति है। मथुरा का रहनेवाला जिससे मैं काफी परिचित हूँ। उसका पिता अच्छा धनिक पण्डित है। पण्डितजी वर्ष में १०-११ महिने बम्बई में रहा करते हैं। घर में रणछोड़ की दूसरी माँ और उनके दो बच्चे और भी कई व्यक्ति रहा करते हैं। घर का अविभावक पण्डित जी का नया साला है। माँ और नये मामा की ओर से रणछोड़ के प्रति आदरपूर्ण व्यवहार नहीं था। पण्डितजी के भय के कारण रणछोड़ को आर्थिक

सहायता देने में तंग नहीं किया जाता था, लेकिन उसके प्रति घर के सभी लोग रुष्ट थे। रणछोड़ प्रतिदिन अपने निवास स्थान गोकुल ग्राम से सात मील की दूरी पर साईकिल से स्कूल जाया करता था। घर से नौ बजे निकल जाता, और कभी-कभी शाम तक घर को लौटता था।

बाद में वह बालक दुर्व्यसन में लिप्त हो गया। उसको हस्त-मैथुन की आदत पड़ गई। अन्त में उसे टी० बी० का भी शिकार होना पड़ा जब बालक के साथ रहने का हमें अवसर मिला तो हमने उसे अपना प्रेम दिया और धीरे-धीरे उसके रोग में भी सुधार हुआ। आज वह बालक बम्बई विश्व विद्यालय में अध्ययन कर रहा है। उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि बालकों की मानसिक प्रगति में अभिभावकों के प्रेम पूर्वक व्यवहार नितान्त आवश्यक हैं।

प्रेम पूर्ण व्यवहार के साथ-साथ बालकों की छोटी इच्छाओं का पूर्तिकरण भी मानसिक प्रगति के लिए नितान्त उपयोगी हैं। बचपन की साधारण इच्छाएँ पूर्ण न होने से अधिक अवस्था होने पर अचेतन मन से वह बालक ही बना रहेगा। जब तक बच्चों की साधारण इच्छाओं का पूर्ति नहीं होती तब तक उनमें बड़ी इच्छायें उत्पन्न होना सम्भव नहीं। बहुत से माता-पिता माता-अपने बच्चों के मित्रों पर बहुत ख्याल किया करते हैं। उनका सदा यह डर रहता है कि बच्चा बुरा न बन जायें। एक बार मैं उज्जैन से मथुरा आ रहा था। गाड़ी के डिब्बे में मेरे पास एक सम्पन्न पञ्जाबी सज्जन सपरिवार बैठे थे। उसका एक तीन चार साल का बच्चा स्टेशन पर घूम कर बेचने वालो की मिठाई देखकर उसे दिलाने लिये कई बार अपने पिता-माता से इशारा किया। उन लोगों के पास फल रखे थे। वे बच्चे का मन उस मिठाई से हटाकर फल देना चाहे, लेकिन कोई भी फल बच्चा स्वीकार नहीं किया। और बार-बार बच्चा मिठाई की ओर इशारा करता रहा। आखिर वे लोग उसे मिठाई नहीं दिये। गाड़ी चल पड़ी और बच्चा भी रो पड़ा। पश्चात् काफी सान्त्वना देने पर बच्चा शान्त हुआ। जब बच्चा इस विश्व में पदार्पण करता हैं तब उसके लिये विश्वकी सभी वस्तुएँ नई मालूम पड़ती हैं और विश्व से शीघ्रातिशीघ्र परिचित होने के लिये उसकी भूख दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसलिये जहाँ तक हो सके बच्चों की साधारण पूर्ति के द्वारा बच्चों के मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओ की वृद्धि करें। अन्यथा उनका विकास नहीं हो पाता।

छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति के साथ बच्चों के स्वास्थ पर ध्यान देना नितांत आवश्यक है। इसके लिये बालकों को प्रकृति के साथ स्वच्छंद खेलने देना पड़ेगा, और रचनात्मक कार्य में लगाए रखना होगा। —श्री कार्ष्णी महानन्द

मनोवैज्ञानिक समस्यायें

न्यूरस्थेनिया क्यों होता है ?

न्यूरस्थेनिया वर्त्तमान काल का एक व्यापक मानसिक रोग है। यह रोग मनुष्य को निकम्मा बना देता है। यदि कोई व्यक्ति किसी काम में बड़ी लगन से पड़ा हुआ है, तो यह रोग उसे उससे हटा देता है और उसे वह अपने ही विषय में सोचने के लिए बाध्य करता है। न्यूरस्थेनिया का रोगी अक्सर असाधारण घबराहट का अनुभव करते हैं। वे अकेले में रह नहीं सकते। अकेले रहने पर उन्हें बार-बार विचार आता है कि कहीं उनकी अकाल मृत्यु न हो जाय ; उनकी बहुत-सी जिम्मेदारियाँ रहती हैं और उनके बारे में सोचकर वे दुःखी होते हैं। न्यूरस्थेनिया के रोगी को किसी भी व्यक्ति पर विश्वास नहीं होता और वह अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रहता। वह चिकित्सा कराए बिना रह नहीं सकता, परन्तु किसी भी चिकित्सा में उसका विश्वास नहीं रहता। यदि वह किसी वैद्य, मानसिक चिकित्सक या डाक्टर के पास जाए, तो वह चाहता है कि चिकित्सक उसे तुरंत अच्छा कर दे। उसे जितना रोग रहता है उससे अधिक चढ़ा-बढ़ाकर वह चिकित्सक को बताता है। हमारे यहाँ आया न्यूरस्थेनिया का एक रोगी पेट भर खाता और पूरी रात सोता था, परन्तु वह शिकायत करता था कि भूख नहीं लगती और महीनों से सोया नहीं।

न्यूरस्थेनिया के रोगी को छोटी-छोटी बातों की चिंता हो जाती है, और किसी भी घटना के बुरे पहलू की ओर ही वह विचार करता है। वह सदा निराशावादिता से घिरा रहता है। वह चाहता है कि सब लोग उसको बहुत ही दुखी मानें और उससे कहें कि उससे बड़ा रोगी उनके पास आया ही नहीं। यदि कोई व्यक्ति उससे कह दे कि उसका रोग तो सामान्य है, तो यह बात सुनकर ही वह चिढ़ जाता है।

न्यूरस्थेनिया अत्यन्त स्वार्थपरायणता का परिणाम है। न्यूरस्थेनिया का रोगी बचपन से ही स्वार्थी, दब्बू और डरपोक होता है। वह लाड़ में पला हुआ रहता है। अतएव दूसरे व्यक्ति के प्रति उदार विचार रखने की क्षमता ही उसमें नहीं रहती। उसे अपने विषय में ही सोचने का अभ्यास हो जाता है। अपने सुख के लिए वह नैतिकता और अनैतिकता पर कोई विचार नहीं करता। हर प्रकार के सुख का अंत दुःख में होता है। ऐसी बातें उसे व्यर्थ प्रलाप मालूम पड़ती हैं। वह अपने शारीरिक सुख की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के व्यभि-

चार में फँस जाता है। ऐसे व्यक्ति को संतान भार-रूप दिखाई देती है। वह विषय-सुख भोगना चाहता है; परन्तु इस सुख से पैदा होनेवाली जिम्मेदारी को वहन करना नहीं चाहता। प्रायः ऐसे रोगी संतान-निग्रह के उपायों का विषय-रमण में काम में लाते हैं। जब अचेतन प्रकृति इनके इस प्रकार के उसे धोखा देने के काम से असंतुष्ट हो जाती है, तब वह उनकी बुद्धि को ही नष्ट कर देती है और उनके सुखों को दुःख में परिणत कर देती है। रोगी जैसे पहले अपने सुख के विषय में सोचता रहता था, वैसे ही अब अपने रोग के विषय में सोचता रहता है। वह अपने रोग के बढ़ने की ही सदा कल्पना करता रहता है। ऐसी कल्पनाएँ उसे बाध्य होकर करनी पड़ती हैं।

न्यूरस्थेनिया के रोगी को न ईश्वर में विश्वास होता है, न मनुष्यों में और न अपने आप में। वह आत्महत्या करना चाहता है, परन्तु यह भी करने की उसमें हिम्मत नहीं रहती। इस प्रकार वह जीते हुए ही नरक में पड़ा रहता है। यदि न्यूरस्थेनिया के रोगी को कहा जाय कि वह दूसरों के प्रति उदार बने और उनकी कुछ सहायता करे, तो यह बात उसे जहर की-सी लगती है। वह सोचने लगता है कि मैं तो अपने ही परिवार की कठिनाइयों से परेशान हूँ, फिर ऊपर से दूसरों की भी कठिनाइयाँ लाद दी जाती हैं। ऐसे रोगी में कोई भली पुस्तक पढ़ने की क्षमता भी नहीं रहती। यदि कोई पुस्तक पढ़ भी जाय, तो उसके भय उत्पन्न करनेवाले विचार ही उसके मन में बैठ जाते हैं, पुस्तक के अच्छे विचार उसे प्रभावित नहीं कर पाते।

न्यूरस्थेनिया इच्छाशक्ति की दुर्बलता का रोग है। इसमें स्नायुओं की दुर्बलता भी हो जाती है। परन्तु यह दुर्बलता इतनी अधिक नहीं होती, जितना कि रोगी मान बैठता है। मनुष्य की इच्छाशक्ति की दुर्बलता अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना के कारण उत्पन्न होती है। एक रोगी ने नए विवाह का आयोजन उसी समय से कर दिया; जिस समय वह अपनी पहली स्त्री के, जिसे चार बच्चे थे, श्राद्ध में लगा था। नया विवाह पहली स्त्री के मरने के दो महीने भीतर हो गया। जब नई स्त्री आई, तो उसे नपुंसकता आ गई और न्यूरस्थेनिया का रोग हो गया। न्यूरस्थेनिया के अधिक रोगियों को मानसिक नपुंसकता रहती हैं। यह नपुंसकता स्त्री को केवल भोग-साधन मानने के कारण उत्पन्न होती है। एक दूसरे रोगी को न्यूरस्थेनिया अपने मालिक की स्त्री के साथ व्यभिचार में पड़ने के कारण हुआ। तीसरे को बच्चों का पैदा होना बन्द करने की प्रबल इच्छा के कारण हुआ। इसके लिए वह कृत्रिम उपायों को काम में लाता था।

डा० फ्रायड के अनुसार न्यूरस्थेनिया कामवासना के दमन के कारण होता है। जब कोई व्यक्ति संतान-निग्रह के उपायों को काम में लाकर इन्द्रिय-सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो इससे कामवासना का दमन होता है। इस वासना की तृप्ति अचेतन मन की वस्तु है, जहाँ चेतन मन के सुख निरर्थक समझे जाते हैं। अचेतन मन की प्रवृत्तियाँ मनुष्य से वे काम कराती हैं, जो उसे अनंत से मिलाते हैं। स्वार्थी मनुष्य अचेतन मन की इस माँग की अवहेलना करता है। इसी से वह रोगी बनता है। जब मनुष्य सहज रूप से अपने आपको प्रकृति की गोद में डाल देता है और उसकी कृपा पर भरोसा करता है, तो वह रोग-मुक्त हो जाता है। प्रकृति का विरोध करने से ही मानसिक खिंचाव उत्पन्न होता है। इसी से इच्छाशक्ति दुर्बल होती है। प्रकृति स्वयं नैतिक और उदार है और जब मनुष्य अपने आपको नैतिक तथा उदार बनाता है, तभी वह सुख और शांति का अनुभव करता है; अन्यथा उसे अनायास ही अकारण भय, चिंता तथा अनेक प्रकार के शारीरिक रोग हो जाते हैं और उसका जीवन नरक हो जाता है।

मन की स्थिरता कैसे आवे ?

स्थिर मन ही परमात्मा है, और चंचल मन शैतान है। मनुष्य का मन चंचल सुखों की अनवरत खोज के कारण होता है। कभी-कभी सुख की चाह को मनुष्य समाज-सम्मान के भाव के द्वारा दबा देता है। फिर वह पक्का शैतान बन जाता है। वासना के दमन के प्रयास से मनुष्य का अहंभाव इतना बढ़ जाता है कि उसका सँभालना अत्यंत कठिन हो जाता है। अहंकार की वृद्धि की अवस्था में पेरानोइया का रोग हो जाता है। जब मनुष्य एकबार अपनी सामान्य चेतना को खो देता है, तो फिर उसे वापस लाना अत्यंत कठिन हो जाता है। अतएव पहले से ही मानसिक स्वास्थ्य के प्रति सावधान रहने में बुद्धिमानी है।

चित्त की स्थिरता संसार के सुखों की अनित्यता पर बार-बार विचार करने से आती है। संसार के सुखों के दोषों पर बार-बार विचार करने से उनके प्रति अनुराग का भाव नष्ट हो जाता है और फिर न तो मनुष्य के चेतन मन में और न अचेतन में लगन रहती है। फिर ऐसे अहंकार की आवश्यकता ही नहीं रहती, जो विषय-सुख की इच्छा का दमन करे। वैरागी मनुष्य निरहंकारी होता है।

प्रतिदिन अन्तरात्मा में उपस्थित शांति-भाव का अभ्यास करने से भी चित्त की एकाग्रता आती है। जब मनुष्य को एक बार निश्चय हो जाता है कि संसार के सुख-दुःख केवल उसकी मनःस्थिति का आरोपण-मात्र हैं। तब वह न तो अनु-

कूल परिस्थितियों से अत्युल्लसित होता है और न प्रतिकूल परिस्थितियों से उद्विग्नमन ही ।

चित्त की स्थिरता आनापानसति के अभ्यास से भी आती है। इस अभ्यास से मनुष्य एक प्रकार की शून्यावस्था में आ जाता है। यह देश-काल के परे रहती है। एक बार इस अवस्था का अनुभव होने पर मनुष्य का मन स्वभावतः ही उस ओर इस प्रकार आकर्षित होता है, जिस प्रकार चुम्बक की ओर लोहे के टुकड़े ।

चित्त की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए अपने जीवन में कुछ मौलिक सिद्धांतों का होना नितांत आवश्यक है। इन सिद्धांतों में नैतिक प्रतिबंध भी शामिल है। दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए नहीं चाहते। नैतिकता मन की चंचलता को रोकने का साधन है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है और उससे मानसिक स्थिरता आती है।

संसार के सभी लोगों के प्रति स्नेह की भावना रखना मन की चंचलता को रोकता है। स्नेह का भाव मनुष्य को ऐसे आनंद का अनुभव कराता है, जिसके प्राप्त होने पर विषय-सुख शुष्क और अर्थ-हीन हो जाते हैं। स्नेह मनुष्य के सभी प्रकार के अभिमान को भी समाप्त कर देता है। अभिमान जुदाई में होता है और मिलन में उसकी शांति होती है। अपने आप को किसी के प्रति समर्पित करना मनुष्य के लिए बहुत जरूरी है; चाहे वह किसी मनुष्य के प्रति हो चाहे ईश्वर के प्रति ।

आनापानसति से आरोग्य-लाभ

आनापानसति का अभ्यास भगवान बुद्ध का बताया हुआ है। इस अभ्यास में मनुष्य सांस के आने-जाने पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित करता है। इस प्रकार के ध्यान के केन्द्रित करने से मानसिक शक्ति का व्यर्थ के संकल्प-विकल्प में अपव्यय होना रुक जाता है। फिर वह इस शक्ति को उपयोगी चिंतन में खर्च कर सकता है। बौद्ध-भिक्षु साधक इस अभ्यास को अपनी साधनावस्था में वर्षों दिन-रात करते रहते हैं। यह अभ्यास विचारशून्यता का अभ्यास है और इससे समाधि अवस्था की प्राप्ति होती है।

भगवान बुद्ध के बताए हुए आनापानसति के अभ्यास को स्वस्थ व्यक्ति ही भले प्रकार से कर सकते हैं। मानसिक रोगी इस अभ्यास की चर्चा सुनकर ही घबड़ा जाता है। मानसिक रोगी सदा अपने आपको भुलाने की चेष्टा करता रहता है और आनापानसति के अभ्यास में तो अपने आप को ही सबसे ज्यादा याद करना पड़ता है। इस अभ्यास के करते समय व्यक्ति के अनेक कुसंस्कार

आग्रत हो जाते हैं और इनके कारण बाध्य होकर उसे इस अभ्यास को बन्द कर देना पड़ता है।

मानसिक रोगों के निवारणार्थ एक विशेष प्रकार का आनापानसति का अभ्यास रोगी से कराया जाता है। यह अभ्यास चिकित्सक की सहायता से रोगी करता है। चिकित्सक रोगी को एक विस्तर पर लिटा देता है और अपने सभी अंगों को ढीला करने का निर्देश देता है। उसे प्रारम्भ में धीरे-धीरे पूरी साँस लेने और छोड़ने का आदेश दिया जाता है। इस प्रकार का अभ्यास करीब दश मिनट तक कराया जाता है। इसके बाद साँस के सामान्य आने-जाने पर ध्यान केन्द्रित करने को कहा जाता है। इस तरह उसके अंग और भी ढीले हो जाते हैं और वह सो जाता है। अंगों को ढीला करने में सहायता करने के लिए चिकित्सक रोगी के शरीर पर उसी प्रकार हाथ फेरता है, जिस प्रकार माँ अपने सोते बच्चे के शरीर पर हाथ फेरती है। इससे रोगी को बड़ा आराम पहुँचता है और उसे जल्दी से नींद आ जाती है। इस नींद में चामत्कारिक आरोग्यवर्द्धन की शक्ति है। रोगी को लाभ उतना ही अधिक होता है, जितनी चिकित्सक के प्रति उसकी श्रद्धा होती है। इस अभ्यास से रोगी के अनजाने ही उसकी बहुत सी मानसिक ग्रन्थियाँ समाप्त हो जाती हैं।

कभी-कभी इस अभ्यास के करते ही अनेक प्रकार के मानसिक विकार शारीरिक क्रियाओं अथवा मानसिक चित्रों में प्रतीक रूप से बाहर निकल आते हैं। कोई-कोई रोगी ऐसी अवस्था में अश्रुधार बहाकर रोते, चिल्लाते, और हँसते-गाते हैं। कोई-कोई अपनी छाती को ऐसे कूटते हैं कि वह ढोल जैसी बनने लगती है। कोई रति-क्रिया की चेष्टाएँ करते हैं। उन्हें इन सब चेष्टाओं का ज्ञान रहता है, पर वे इनके ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकते। ऐसी अवस्था में पुरानी से पुरानी बातें स्मृति की सतह पर आ जाती हैं। इनके चेतना के स्तर पर आने से मानसिक द्वंद्व में कमी हो जाती है। इस प्रकार के अभ्यास से हृदय का रोग, पेट का शूल, स्नायुओं की दुर्बलता, अकारण भय, बाध्य चिन्ताएँ, कामकुटेव आदि सभी रोग समाप्त हो जाते हैं।

इस अभ्यास में मन के गुप्त स्तर में छिपे भाव चेतना के स्तर पर आते-जाते हैं। इसके लिए रोगी का मनोविश्लेषण नहीं करना पड़ता। रोगी अपने आपही अपनी अनुभूतियों को प्रतिदिन सुनाते जाता है। इस अभ्यास में रोगी के पास चिकित्सक को प्रतिदिन रहने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे एक बार अभ्यास अपने सामने करा दिया जाता है। इसके बाद वह प्रतिदिन नियमित रूप से स्वयं अभ्यास करते रहता है। वह अपने स्मृति-पटलपर आई हुई बातों को

चिकित्सक को बताने के लिए लिखते जाता है। इतना करने से ही उसका रोग समाप्त हो जाता है।

यह अभ्यास सम्मोहन के अभ्यास से इस बात में भिन्न है कि जहाँ सम्मोहन में रोगी की प्रबल वासनाओं और आवेगों का दमन होता है, इस अभ्यास से उनका रेचन होता है। सम्मोहन मनुष्य को आत्मविस्मृति कराता है, इस अभ्यास से मनुष्य को अपने भीतर उपस्थित अनेक अवांछनीय कामनाओं का ज्ञान होता है। सम्मोहन की अवस्था में होनेवाले अनुभव रोगी को प्राय: याद नहीं रहते, इस अभ्यास की अवस्था में होनेवाले अनुभव रोगी को याद रहते हैं। इसके कारण रोगी के चेतन और अचेतन मन में एकीकरण का होना सरल हो जाता है। फ्रायड ने सम्मोहन की निंदा इसलिए की थी कि इससे मानसिक विभाजन कम न होकर बढ़ जाता है। अतएव सम्मोहन ऊपरी दृष्टि से लाभ भले ही करे, अन्त में यह रोगी के लिए हानिकारक होता है। आनापानसति के अभ्यास से मानसिक विभाजन की समाप्ति होती है। इससे इच्छाशक्ति ही नहीं, वरन् उसकी स्मरण-शक्ति, कल्पना, चित्त की एकाग्रता और विचारशक्ति भी बढ़ जाती है। सम्मोहन किसी व्यक्ति की रुग्णावस्था में ही कामयाब होता है। जैसे-जैसे मानसिक रोग की कमी होती जाती है, सम्मोहन की सफलता भी घटती जाती है। आनापान सति के अभ्यास का परिणाम इससे उल्टा ही होता है। रोगी को जितना ही अधिक लाभ होते जाता है, वह इस अभ्यास को अधिकाधिक करने की योग्यता प्राप्त करते जाता है। सम्मोहन मनुष्य को परावलंबी बनाता है और आनापानसति का अभ्यास उसे स्वावलम्बी बनाता है। सम्मोहन से मानसिक शक्तियों की वृद्धि नहीं होती, वरन् उनका ह्रास होता है; इसके विपरीत आनपानसति से न केवल मानसिक विकारों का रेचन होता है; वरन् व्यक्तित्व का सुगठन होता है और मानसिक दृढ़ता आती है।

श्वांस-प्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित करने के अभ्यास की स्वास्थ्यलाभ में उपयोगिता पर योरोप के कुछ विद्वानों ने बड़े महत्व के प्रयोग किए हैं। हेरोल्ड फिंक ने इसे स्नायुओं के खिंचाव को घटाने का अचूक अस्त्र माना है। डा० विलियम ब्राउन ने इसे न केवल मानसिक रोगों के उपचार में उपयोगी माना है, वरन् उद्दण्ड बालकों के आचरण के सुधार में और सामान्य व्यक्तियों के मानसिक शक्तियों की वृद्धि में भी उपयोगी माना है। डा० ब्राउन के कथनानुसार इस प्रकार के अभ्यास से कोई भी व्यक्ति अपनी जटिल-से-जटिल बुरी आदत से मुक्त हो सकता है और अपने स्वभाव में आमूल परिवर्तन कर सकता है।

स्वप्न-दोष का मानसिक उपचार

स्वप्न-दोष एक व्यापक रोग है, जो नवयुवकों को चिंता में डाले रहता है। जो युवक आदर्शवादी होते हैं, सदा अपने मन को पवित्र रखने की कोशिश करते हैं तथा काम-वासना सम्बन्धी बातचीत आदि से अपने को बचाते रहते हैं; उन्हें जब स्वप्नदोष होता है, तो वे अपनी अत्यंत भर्त्सना करते हैं, उनका जीवन भार-रूप हो जाता है। वे जितना ही अधिक स्वप्न-दोष से मुक्त होने की चेष्टा करते हैं, उतना ही यह रोग जटिल होता जाता है।

काशी-मनोविज्ञानशाला में ऐसे अनेक युवकों के पत्र आते रहते हैं, जिन्होंने स्वप्नदोष के कारण अपना जीवन भार समझ लिया है। वे नैतिक दृष्टि से ऊँचा उठने की कोशिश करते हैं, अनेक प्रकार के परहेज और नियंत्रण करते हैं, पर यह रोग उनका पीछा नहीं छोड़ता।

कभी-कभी युवक बचपन से ही हस्थमैथुन, समलिंगी व्यभिचार आदि काम-कुटेवों में पड़े रहते और जब बाद में नैतिक बुद्धि के सचेत होने अथवा "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" जैसी पुस्तकों के पढ़ने से उन्हें आत्मग्लानि होती है, तो वे अपनी कामवासना का दमन करते हैं। इससे स्वप्नदोष शुरू हो जाते हैं। "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" जैसी पुस्तकें कामकुटेवों के प्रति अत्यधिक भय पैदा कर देती हैं। परन्तु भय के द्वारा हम केवल चेतन मन में चलनेवाले विचारों और प्रेरणाओं को ही रोक सकते हैं, कामवासना को नहीं रोक सकते; जिसकी प्रेरणा अचेतन मन से आती है। भयात्मक स्थिति पैदा हो जाने पर तो हालत और भी खराब हो जाती है।

जो लोग शारीरिक उपकरणों, यथा औषध, शुद्ध भोजन, आसन आदि से स्वप्नदोष को रोकना चाहते हैं, वे भी असफल होते हैं; क्योंकि स्वप्नदोष का सम्बन्ध विशेषतः मन से है। शारीरिक उपायों से कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है, पर इस रोग की उचित चिकित्सा नहीं हो सकती। काम-वासना का मूल स्रोत मनोवैज्ञानिक है, शरीर तो उसके निकास का एक बाह्य साधन मात्र है।

कुछ लोग समझते हैं कि मन को अश्लील बातों में लगाने से स्वप्नदोष होता है। सिनेमा देखना, अश्लील उपन्यास पढ़ना, मित्रों के साथ अश्लील बातें करना आदि स्वप्नदोष का कारण माना जाता है। कहा जाता है कि दिन हम जैसी बातें सोचते हैं, वैसी ही बातें स्वप्न में आती हैं। अतः कुछ लोग नवयुवकों को कामक्रीड़ा संबंधी बातों से अलग रहने की सलाह देते हैं। उपर्युक्त

सभी कारण स्वप्नदोषके वाहरी कारण हैं। भीतरी कारण कुछ दूसराही रहता है। स्वप्नदोप का वास्तविक कारण वह मानसिक अंतर्द्वन्द्व है, जिसका ज्ञान स्वयं रोगी को भी नहीं रहता। स्वप्नदोप से पीड़ित प्रत्येक मनुष्य के भीतरी मन में काफी असंतोप रहता है। उस असंतोष की स्थिति से मुक्त होने के लिए ही भीतरी मन स्वप्नदोप का सहारा लेता है। इसी कारण कभी-कभी बिना स्वप्नचित्र देखे भी वीर्य-पात हो जाता है। वास्तव में भीतरी मन में दुःख और असंतोप रहने पर मनुष्य विपय-सुख में लिप्त होता है। उसका मन कामकुटेवों में अपने आपको संतोष देने की चेष्टा करता है। इस प्रकार ऐन्द्रिक सुख के द्वारा हम अपने को भुलाने की चेष्टा करते हैं। किसी भी कामकुटेव में फँस जाना इसी वात को सूचित करता है। जिस प्रकार नशा के द्वारा हम अपने आपको भुलाना चाहते हैं और आत्म-विस्तृति की स्थिति में थोड़ा संतोप पाना चाहते हैं, उसी प्रकार काम-कुटेव भी वह नशा है; जिसके द्वारा हम अपनी भीतरी दुःखमय स्थति को भूल जाने की कोशिश करते हैं। जिस व्यक्ति में मानसिक असंतोप जितना ही अधिक होता है, उसे स्वप्नदोप से उतना ही अधिक पीड़ित होना पड़ता है।

स्वप्न-दोष से मुक्त होने के लिए पहला उपाय है कि हम उसे कोई भया-वह वस्तु न समझें। जवानी में स्वप्नदोप का होना स्वाभाविक है। यदि महीने में एक-आध वार स्वप्नदोप हो जाता है, तो इससे कोई हानि नहीं। शक्ति के अधिक हो जाने पर वह स्वप्नदोष के माध्यम से वाहर निकल जाती है। अतः इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। जितनी हानि स्वप्नदोप होने से नहीं होती, उतनी हानि उसके विपयमें चिंता और आत्म-भर्त्सना करने से होती है।

स्वप्नदोप के वास्तविक उपचार के लिए यह आवश्यक है कि रोगी के भीतरी मन में उपस्थित असंतोष और दुःख के भाव को नष्ट किया जाय। जो मनुष्य आन्तरिक मन से शान्त है, जिसका मन आत्महीनता के भाव से संतप्त नहीं है; उसे न तो स्वप्नदोप आदि का रोग होता है और न किसी अनुचित काम को करने की असाधारण प्रेरणा ही पैदा होती है। जिस व्यक्ति को पर्याप्त प्रेम नहीं मिला होता, उसी के मन में असंतोष और अशांति का भाव रहता है। प्रेम पाने से हममें प्रेम देने की योग्यता आती है। प्रेम के इस आदान-प्रदान से हमारे हृदय का विकास होता है। हृदय में रहनेवाले भावों के विकास से ही शांति संभव है। हमारा हृदय प्रेम का भूखा है। प्रेम से हमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के अभाव में हमारा मन संतोष पाने के लिए काम-सुख की ओर दौड़ता है। जाग्रतावस्था में हम काम-कुटेवों से भय के

कारण इधर से अपने मन को रोकना चाहते हैं। पर हमारा भीतरी मन स्वप्नावस्था में स्वतंत्ररूप से अपनी भूख को तृप्त करता है। हमारा भीतरी मन बच्चा है। वह निरंतर सुख की कामना करता है। परंतु जैसे-जैसे हमारी नैतिक बुद्धि बढ़ती जाती है, तैसे-तैसे हम अपने बाल-मन की माँगों की अवहेलना करते जाते हैं। इससे हमारा भीतरी संघर्ष बढ़ता जाता है। इस संघर्ष के बढ़ने पर स्वप्नदोष भी बढ़ जाता है।

स्वप्नदोष के रोगी को नैतिक उपदेश देने से कोई लाभ नहीं हो सकता; वरन् उसकी बातों को सहानुभूति पूर्वक सुनने, उसकी कमियों को जानकर भी उसे प्यार करने से ही उसे लाभ हो सकता है। रोगी के मन में उपस्थित प्रेम की भूख को तृप्त करने से उसका रोग समाप्त हो जायगा। प्रेम ही वह सूत्र है, जिसे पकड़कर हम आत्मशांति प्राप्त कर सकते हैं। जब हमारा मन सुख और शान्ति के वास्तविक स्रोत को पकड़ लेता है, और जब उसे उसमें रस मिलने लगता है; तो वह फिर विषय-सुख की इच्छा को छोड़ देता है। हीरा पा जाने पर हम कंकड़ को अपने आप छोड़ देते हैं। परन्तु जब तक हीरा मिला नहीं रहता, तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी हमारा मन कंकड़ चुनना छोड़ नहीं सकता। इसीलिए जो लोग स्वप्नदोष या किसी भी कामकुटेव पर कोरा नियंत्रण करते हैं और मन को तृप्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिए कोई साधन प्रदान नहीं करते; वे लोग कभी भी सफल नहीं हो सकते। आत्म-शान्ति का मार्ग ही आत्म-नियंत्रण का मार्ग है। शान्ति के मार्ग पर चलने से मन का नियंत्रण बिना किसी प्रयत्न के अपने आप ही हो जाता है।

स्वप्नदोष का निवारण स्वयं रोगी कर सकता है। एक तो इससे घबड़ाना नहीं चाहिए और सोचना चाहिए कि यह युवकों और किशोर बालकोंके लिए स्वाभाविक है। दूसरे अपने स्वप्नदोष और साथ अपने गुप्त काम-कृत्यों को किसी ऐसे व्यक्ति के सामने स्वीकार करना चाहिए; जिसके प्रति श्रद्धा का भाव हो। ऐसा करने से कामवासना की प्रबलता घट जाती है। तीसरे, स्वप्नदोष के रोगी को चाहिए कि वह छोटे बच्चों तथा अपने मित्रों को मिठाई आदि खिलाए-पिलाए तथा प्यार करे। चौथे, उसे ऐसे रचनात्मक कार्यों में लग जाना चाहिए, जिनमें उसे आनंद आता हो। किसी भी व्यक्ति के प्रति प्रेम का भाव उद्वेलित होने पर स्वप्नदोष की समाप्ति हो जाती है। इन सब उपायों का सार यह है कि इनसे हमें आत्मसंतोष मिलता है और हमारी जो शक्ति स्वप्नदोष में खर्च होती है, वह फिर इधर प्रकाशित होने लगती है।

—कमलाकर मिश्र

बच्चों में बोलने का दोष

बहुत से शारीरिक दोष ऐसे होते हैं, जिनका कारण मानसिक होता है। बोलने में दोष का कारण भी बहुधा मानसिक ही होता है। बोलने के दोष दो प्रकार के हो सकते हैं—तुतलाना और हकलाना।

तुतलाना सभी छोटे बच्चों में नैसर्गिक रूप से पाया जाता है। जब तक बच्चों के दाँत नहीं निकलते, तबतक तुतलाना स्वाभाविक है; क्योंकि कई अक्षर ऐसे हैं, जो दाँतों के बिना ठीक से उच्चरित नहीं किए जा सकते। परन्तु जब दाँत निकलने के बाद भी या बड़े होने पर बच्चे तुतलाते हैं, तो यह उनका रोग है। बच्चों को बहुत अधिक लाड़ में रखने से भी तुतलाहट आ जाती है। बच्चों की तुतली बोली को जब हम बहुत अधिक पसन्द करते हैं और उन्हीं के अनुसार तुतलाकर हम उन्हें प्रसन्न करते हैं, तो उन्हें तुतलाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। कभी-कभी दूसरे बच्चों का तुतलाना देखकर भी अच्छे बच्चे तुतलाने लगते हैं। चूँकि दूसरे बच्चों की ओर तुतलाने के कारण और लोगों का ध्यान आकर्षित होता है, अतः शुद्ध बोलने वाला बालक भी तुतलाना शुरू कर देता है। फिर ऐसी आदत पड़ जाती है। तुतलाने का एक तीसरा कारण दाँतों का ठीक न होना या मुख में किसी प्रकार का दोष होना भी हो सकता है।

तुतलाना उतना अप्रिय रोग नहीं है, जितना हकलाना। बोलने के दोष में हकलाना एक ऐसा दोष है, जो बच्चों के सामाजिक विकास में और आगे चलकर उनके जीवन की सफलता में कड़ा बाधक सिद्ध होता है। हकलाना भी दो प्रकार का होता है। एक में बच्चे एक ही अक्षर को बारबार उच्चरित करते हैं। दूसरे प्रकार में बोलने के आरम्भ में या बोलते-बोलते आवाज रुक जाती है।

हकलाने का रोग प्रायः उस समय शुरू होता है, जब बच्चे बोलना सीखते या प्रथम बार पाठशाला में प्रवेश करते हैं। पच्चासी प्रतिशत हकलानेवाले बच्चों में हकलाने का दोष आठवर्ष के पूर्व ही आरम्भ हो जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने खोजों और प्रयोगों-द्वारा सिद्ध किया है कि हकलानेवालों का अनुपात प्रथम कक्षा से आठवीं कक्षा तक बढ़ता ही जाता है। ये बच्चे बहुधा स्कूल में पिछड़े रहते हैं।

हकलाने के कारणों का दो प्रकार हो सकता है, शारीरिक और मानसिक या मनोवैज्ञानिक। प्रथम में मुख या बोलने के यन्त्र में दोष होता है या दाँत टेढ़े-मेढ़े होते हैं। इन दोषों के कारण बालक किसी विशेष अक्षर या शब्द का उच्चारण ठीक से नहीं कर सकता और उस अक्षर या शब्द के आनेपर वह एकदम

रुक जाता है। शारीरिक दुर्बलता, रक्त की कमी, सदा रोग, आदि भी इसके कारण हो सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक कारणों में मुख्य हैं संवेगात्मक चोट या बाधाएँ। जिन बालकों के बोलने या कामों की आलोचना हर समय की जाती है, उनमें आत्म-विश्वास का अभाव और आत्म-हीनता के भाव का विकास होने लगता है। हकलाने का प्रधान कारण आत्म-विश्वास की कमी होती है। हकलाहट आरम्भ होने का परिणाम होता है सामाजिक विकास में बाधा। खिल्ली उड़ाए जाने के भय से बालक बहुत कम लोगों से मिलता-जुलता है और वह एकांत-प्रेमी बन जाता है। फिर उसका बौद्धिक विकास भी ठीक से नहीं होता। मन्द-बुद्धि का होना भी हकलाहट का कारण बनता है; किन्तु कभी-कभी तीव्र बुद्धि वाले और बातूनी बालक भी हकलाने लगते हैं, पर विशेष परिस्थिति में पड़ने पर ही; जैसे अपने से बहुत बड़े व्यक्ति से मिलने पर अथवा जहाँ उनकी स्वयं की मानहानि की सम्भावना हो वहाँ घबड़ाहट के कारण भी हकलाहट उत्पन्न हो जाती है। जिन बच्चों में बहुत जल्दी-जल्दी बोलने की आदत होती है, उनमें भी हकलाहट आ जाती है। इसका कारण है विचारशक्ति की तीव्रता; विचारों की तीव्रता और बोलने की गति में सामंजस्य नहीं हो पाता।

भय के कारण भी बच्चे हकलाने लगते हैं। यदि डाँट-डपट कर प्रश्न पूछा जाय, तो भय के कारण उत्तर गलत निकल जाता है और फिर हकलाना शुरू हो जाता है। अत्यधिक क्रोध में भी बोलने के समय वाक्यों का उच्चारण पूर्ण नहीं होता और वाक्य बीच में ही छूट जाते हैं। अतः क्रोधी बच्चों में भी हकलाहट की प्रवृत्ति पाई जाती है। दुःख और अत्यधिक चिन्ता तो अधिकतर बच्चों की हकलाहट का कारण होते हैं। जिन हकले बच्चों का मनोविश्लेषण किया गया है, उनमें से अधिकांश का जीवन उपेक्षित पाया गया है तथा घरवालों का व्यवहार इनके प्रति बहुत अत्याचारपूर्ण रहा है।

हकलाने वाले बालकों में पहले से ही मानसिक दुर्बलता रहती है। जब ऐसे बालक कोई अनुचित काम कर लेते हैं और उसके कारण उन्हें दण्ड का भय हो जाता है तो वे हकलाने लगते हैं। वे इस भय को भूल जाते हैं तभी हकलाना आता है। इस तरह हकलाना दमित भय का परिणाम। मनोविश्लेषण से इस दमित भय का रेचन हो जाता है। यह भय आत्मग्लानि उत्पन्न करने वाली घटना से सम्बन्धित रहता है। अतएव स्मरण नहीं होता। प्यार और प्रोत्साहन के वातावरण में आत्मग्लानि का भाव समाप्त हो जाता है, तब भय की घटना याद आ जाती है और रोग चला जाता है।

हकलाने का दोष पैतृक देन के रूप में भी प्राप्त हो सकता है। दूसरे हकलानेवालों की नकल करने से भी बच्चे हकलाने लगते हैं। ऐसा करने से बाद में हकलाने की आदत पड़ जाती है। जो बालक बहुत लाड़ में पलते हैं, जो पूर्णतः माँ-बाप पर निर्भर रहते हैं, जिन बच्चों को माँ-बाप स्वतन्त्ररूप से कार्य नहीं करने देते; बल्कि उनका सारा काम स्वयं करते रहते हैं, वे बच्चे भी हकलाने लगते हैं। इसका प्रधान कारण होता है कि ऐसे बच्चों में आत्मविश्वास नहीं रहता।

हकलाहट के चाहे जो भी कारण हों; वे सभी आत्म-विश्वास का अभाव एवं आत्म-हीनता के भाव का विकास करते हैं। अतः हकलाहटको छुड़ानेके लिए बच्चों को हीनता के भाव से छुड़ाने तथा उनमें आत्म-विश्वास लाने की आवश्यकता है। ऐसा तभी हो सकता है, जब बच्चों को प्यार और प्रोत्साहन मिले। जिन बच्चों की अपनी माँ नहीं होती और विमाताएँ तथा परिवार के अन्य सदस्यों से प्यार नहीं मिलता, वरन् हर समय डाँट-फटकार और उपेक्षा मिलती है, वे विशेष रूप से इस दोष के शिकार हो जाते हैं। बच्चों में आत्म-विश्वास तब आता है, जब उन्हें अपने कार्यों के लिए अपने अभिभावकों और अध्यापकों से प्रशंसा तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति होती है।

ऊपर बताया गया है कि अत्यधिक लाड़ में पले बच्चे परावलम्बी होने के कारण आत्मविश्वास खो देते हैं। अतः माँ-बाप को चाहिए कि अपने लाड़ले बच्चों को अपना काम करने का प्रोत्साहन दें तथा उन्हें कठिन परिस्थितियों में अपने को अभियोजित कर सकने का अवसर प्रदान करें।

—मोती रानी सिंहल



हीनता-ग्रन्थि

समाज में प्रायः सभी लोगों को किसी-न-किसी प्रकार की हीनता का अनुभव होता है। कुछ लोग सोचते हैं कि मैं अमुक व्यक्ति से बुद्धि में हीन हूँ। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मेरा शरीर इतना दुर्बल है कि समाज के समक्ष उसका खुला प्रदर्शन नहीं कर सकता। यह सर्वमान्य है कि हीनता का दुःख सभी दुःखों से प्रबल होता है। हम नहीं चाहते कि समाज में किसी व्यक्ति से हम हीन रहें। इसी से हमारी आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता और उसके विभुत्व का आभास मिलता है।

'हीनता-ग्रन्थि' एक सामाजिक मानसिक रोग है। इसकी व्युत्पत्ति समाज की कल्पना से ही होती है। यदि कोई व्यक्ति समाज के परे हिमालय की कन्दरा में जाकर निवास करे, तो उसे किसी प्रकार की हीनता का दुःख न होगा। हीनता-ग्रन्थि दो व्यक्तियों अथवा दो वर्गों के बीच में ही उत्पन्न होती है। यही प्रतियोगिता का सिद्धान्त है।

अर्थ-शास्त्रियों के अनुसार प्रतियोगिता के द्वारा ही समाज का उत्थान होता है। इसके विपरीत आध्यात्मवादियों का कथन है कि प्रतियोगिता के द्वारा व्यक्ति का पतन होता है। हीनता और उच्चता की भावना 'प्रतियोगिता' के आधार पर ही जन्म लेती है।

हीनता की भावना वास्तविक और काल्पनिक दोनों हो सकती हैं। जैसे कोई एक व्यक्ति काना या बहरा अथवा निर्बल या बुद्धिहीन है; तो उसे समाज में अपने से विशिष्ट व्यक्तियों को देखकर हीनता का अनुभव होना स्वाभाविक है। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं; जिनकी हीनता-ग्रन्थि काल्पनिक ही होती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति शरीर से बलिष्ट और तन्दुरुस्त है, पर फिर भी यदि उसे भ्रम हो जाय कि मैं दुर्बल हूँ, तो उसकी हीनता-भावना काल्पनिक ही कही जायगी। कुछ लोगों को मन्द-बुद्धि का भ्रम हो जाता है। वास्तव में उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर होती है। पर बाहर की मार के कारण और अकारण आलोचना करने के कारण उनकी बुद्धि हत हो जाती है, जिससे उन्हें भ्रम हो जाता है कि उनकी बुद्धि मन्द है। यह सब हमारे अभिमान की नादानी का परिणाम होता है। उन्हें इतनी समझ नहीं होती कि उन्हें बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। उन्हें कब दण्ड देना चाहिए और कब प्रोत्साहन।

इस अनभिज्ञता के कारण उन्हें बड़े-बड़े मानसिक रोगों का शिकार बनना पड़ता है, जिससे उनका जीवन-जटिल और कर्तव्य-पथ कण्टकाकीर्ण हो जाता है।

काल्पनिक हीनता का कारण बहुत कुछ मानसिक होता है। कुछ ऐसी दमित वासनाएँ हमारे अज्ञात मन में वर्तमान होती हैं, जो भीतर से हमारे बाह्य-जीवन को प्रभावित किया करती हैं। हमारी चेतना को उसका ज्ञान नहीं होता। मान लीजिए, बचपन में किसी ने कोई अनैतिक कार्य किया। यदि अभिभावक ने बच्चे के प्रति उत्तेजनापूर्ण व्यवहार किया और यदि बारबार बच्चे की आलोचना की, तो बच्चे के भीतर अपने प्रति एक प्रकार की आत्म-हीनता का भाव अवश्य जाग्रत होगा; जिसके परिणाम-स्वरूप वह बारबार कुत्सित कार्य करेगा। इसलिए हमें अपने बच्चों की आलोचना समय-समय पर ही करनी चाहिए। बारबार आलोचना करने से बच्चा प्रतिक्रियावादी हो जाता है और उस पर कुछ प्रभाव भी नहीं पड़ता। अतः अपने बच्चों में हमें सद्गुणों की खोज करना चाहिए। यह आध्यात्मिक सत्य है कि जिसके अन्दर हम जिस प्रकार के गुणों का दर्शन करते हैं, कालान्तर में वह उसी प्रकार का बन जाता है। व्याख्यान देने की अपेक्षा यदि हमारी शिक्षा व्यावहारिक हो, तो उसका प्रभाव बच्चों पर समुचित पड़ता है।

दूसरा उदाहरण उस व्यक्ति का लीजिए, जो स्वस्थ होने पर भी दुर्बलता का शिकार बना रहता है। क्या कारण है कि उसे इस प्रकार की दुर्बलता का भ्रम होता है। जिस व्यक्ति के विषय में हमने वर्णन किया, वह व्यक्ति बड़ा सदाचारी है। बचपन से ही स्थितियों के झेलने का वह आदी है। मैं जानता हूँ कि यदि उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो आत्महत्या कर लिए होता। ऐसे ही पुरुष सामाजिक आदर्शों के जनक और परिपोषक होते हैं। उनके मनोविश्लेषण से पता लगा कि एक बार ये अपनी अतृप्त कामवासना की तृप्ति अपनी भाभी के साथ करना चाहते थे। उनकी भाभी भी इस प्रकार के व्यवहार के लिए उन्हें संकेत किया करती थी। पर बात यह थी कि उनकी जननेन्द्रिय छोटी थी। नैतिकता तो उनके अन्दर थी ही। इन दो कारणों के अनुसार उनके भीतर ऐसी भावना जाग्रत हुई कि उन्होंने संयोग का विचार छोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि कहीं भाभी के समक्ष उन्हें लज्जित न होना पड़े। उनके जीवन की सिर्फ एक घटना ने उनके जीवन को इतना जटिल बना दिया कि समाज से उनका बोलना मुश्किल हो गया। बात-बात में उन्हें आत्महीनता का अनुभव होता था कि वे बुद्धि में हीन हैं, शरीर से दुर्बल हैं और साथ-साथ उनका चरित्र भी दूसरों से खराब है। इस प्रकार की आत्मभर्त्सना का परिणाम

बड़ा ही भयंकर होता है। उसकी छाप जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ती है, फिर आत्महत्या के सिवा उक्त प्रकार के व्यक्ति को कहीं ठीकाना नहीं लगता। उनके अन्दर आत्म-हीनता की भावना इतनी जबर्दस्त थी कि एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि आठ वर्षों से मैंने अपना खुला शरीर समाज को नहीं दिखाया। जब कभी उन्हें अपना शरीर नंगा करने का अवसर होता, तो वे इतने घबड़ा जाते थे कि हृदय की गति रुकने का भय हो जाता था। शरीर न दिखाना पड़े इसके लिए दो-दो चार-चार दिनों के बाद वे स्नान करते थे। यही बाद में उन्हें हृदय रोग के रूप में सामने आया। जब कभी कोई व्यक्ति उनके सामने आता अथवा उनके समीप बैठता, तो उन्हें यही भय लगता था कि कहीं उनके हृदय की गति न बन्द हो जाय। इस प्रकार उनका जीवन अत्यन्त जटिल हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन की एक घटना हमारे सामने कितनी अमिट छाप छोड़ जाती है, उसका अनुमान करना बड़ा कठिन है। जब उक्त व्यक्ति को उस घटना विशेष का ध्यान कराया गया, तो उनका रोग स्वतः गायब हो गया।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक होगा कि हमारे जीवन के भय दो प्रकार के होते हैं। एक भय तो वे होते हैं, जो समाज की ओर से होते हैं और दूसरे भय आन्तरिक संघर्ष होते हैं, जैसे अनिष्ट का भय। पहले प्रकार का भय कर्तव्य-हीनता के कारण होता है और दूसरे प्रकार के भय का कारण आत्म-दमन होता है। जैसे मान लीजिए कि हमने अपने किसी मित्र के प्रति कोई अनुचित व्यवहार किया, तो हमें उसकी ओर से भयभीत होना ही पड़ेगा, यदि हमने सामाजिक नियमों का उल्लंघन किया, तो हमें सामाजिक भय अवश्य सताएँगे। आत्म-दमन के कारण हमें आभ्यंतरिक भय होता है; जैसे यदि हमने जीवन में कोई ऐसा कार्य किया, जिससे हमें आत्मभर्त्सना करनी पड़े; तो हमें आभ्यंतरिक भय होगा। इसका निराकरण केवल विवेक-द्वारा हो संभव है। इसके विपरीत सामाजिक भय का निराकरण कर्तव्य-निष्ठ होने से हो सकता है। जिस आत्म-हीनता का वर्णन हमने किया, उसका कारण सामाजिक और आन्तरिक दोनों हैं।

मनुष्य में आत्म-हीनता का भाव अपने दोष को छिपाने की चेष्टा के कारण होता है। सभी व्यक्तियों में किसी न किसी प्रकार की कमी रहती है-किसी को रूप की कमी होती है, किसी को धन की, किसी को समाज में स्थान की, तो किसी को विद्या अथवा चरित्र की कमी रहती है। किसी व्यक्ति का कोई अंग विशेष दोष युक्त होता है। मनुष्य को हीनता का भाव रहना अस्वभाविक नहीं।

अपनी कमी को जानकर मनुष्य उस कमी को पूरी करने की चेष्टा करता है। जब वह अपनी कमी को छिपाने अथवा भुलाने का यत्न करता है तभी वह अनेक प्रकार से उसे त्रास देती है। वह ऐसी बातों से डरने लगता है जिससे उसे डरना न चाहिये। चरित्र की कमी शारीरिक कमी पर आरोपित हो जाती है, फिर चरित्र उघारने का भय शरीर उघारने के भय में रूपान्तरित हो जाता है। जब मनुष्य को अपनी वास्तविक कमी का ज्ञान हो जाता है तो वह विवेक द्वारा उसपर विचार कर लेता है और फिर उससे उत्पन्न होने वाला डर अथवा आत्महीनता का भाव समाप्त हो जाता है। मनुष्य की आत्मा स्वयं सभी प्रकार के दोषों को बाहर निकालती रहती है। दमन से हानि ही होती है आत्म-स्वीकृति से ही मनुष्य को शान्ति मिलती है।

—जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव एम०ए०

स्नेह-दीप

दीपक में तेल डालते जाओ, वह जगमग जलता रहेगा; दूर-दूर तक प्रकाशित करता रहेगा। तेल जितना ही स्वच्छ होगा, प्रकाश उतना ही अधिक प्रभावान् होगा।

मनुष्य को स्नेह दिए जाओ; वह एक-एक साँस उत्साह के साथ जिएगा और अपने आस-पास को उत्साहित करता रहेगा। स्नेह जितना ही निःस्वार्थ होगा, व्यक्ति उतना ही अधिक आध्यात्मिकता के निकट पहुँचेगा और समाज को बहुमूल्य देन दे जाएगा।

—धनवती

भाषा और राष्ट्रविकास

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने कहा है:—

निज भाषा उन्नति अहै सब भाषा की मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल॥

भारतेन्दु की उपर्युक्त दो कड़ियों में निज-भाषा उन्नति के मूलतत्व को बतलाया गया है। आज संसार का कोई ऐसा स्वतन्त्र देश नहीं है, जिसकी अपनी भाषा नहीं और जिसे अपने साहित्य के ऊपर गर्व न हो, जहाँ की सर्वोच्च शिक्षा और राज्य के कामकाज अपनी देश की भाषा में न चलता हो। भारतवर्ष और अपने पड़ोसी देश ही, जो सदियों यूरोप के अधीन रहे, अपने राज्य का काम-काज विदेशी भाषा में चलाते हैं और उसे ही उच्चशिक्षा का माध्यम बनाये हुए हैं। यह परिस्थिति इस बात का द्योतक है कि यद्यपि हम राजनीतिक दृष्टि से अँग्रेजों से स्वतन्त्र हो गये, तो भी अभी हम उनकी सांस्कृतिक दासता में हैं। हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता भी तब तक पूरी नहीं कही जा सकती, जब तक कि हम अपने देश के सभी काम अपनी भाषा में और अपने ही ढंग से नहीं करने लग जाते। बिना हमारी स्वतंत्र राष्ट्र भाषा हुए हम दूसरे देशों के सम्मान के पात्र भी नहीं होंगे।

आज राष्ट्रभाषा का प्रश्न एक झगड़े का प्रश्न बन गया है। परन्तु यह झगड़ा ऊपरी ही है। यह बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने का आशीर्वाद महात्मगांधी और उनके पहले के सभी समाजसेवकों से प्राप्त हो चुका है। महात्मा गांधी और स्वामी दयानन्द दोनों गुजराती थे। परन्तु उन दोनों ने ही भारतवर्ष में व्यापक जन-जागृति करने के लिये हिन्दी को अपनाया। महाराष्ट्र में तो हिन्दी का कोई विरोध ही नहीं है। वहाँ के सभी समाजसेवक हिन्दी को ही अपने कार्यों का अध्ययन बनाये हुए हैं। मराठी साहित्यकारों की सेवा से हिन्दी उतनी ही समृद्धशाली हुई है, जितनी कि वह हिन्दी लेखकों से हुई है। सर्वोच्च कोटि के मराठी लेखक जो हिन्दी लिखते हैं, वे प्राय: उच्चकोटि के हिन्दी लेखकों से अधिक अच्छी होती है। हिन्दी भाषा भारतवर्ष के आधे लोगों की भाषा है और दूसरी एक चौथाई भाग में सरलता से समझ ली जाती है। अतएव इसे राष्ट्रभाषा के रूप में यदि विधान ने स्वीकार किया है, तो यह कोई अनोखी बात नहीं है।

हिन्दी का विरोध दो प्रकार के लोग करते हैं। एक वे जिनकी आजीविका

अँग्रेजी से चलती है और जिन्हें अँग्रेजी को राष्ट्रभाषा के पद से हट जाने से भारी हानि होगी। दूसरे वे लोग हैं जो सोचते हैं कि हिन्दी इतनी समृद्धशाली हो ही नहीं सकती कि वह राष्ट्रभाषा बन सके। पहले प्रकार के लोगों में कुछ दक्षिण के लोग हैं। परन्तु इस प्रकार के विरोधियों में हिन्दी भाषा-भाषी भी बहुत से हैं। जिन लोगों की आदत अँग्रेजी में बोलने और काम करने की पड़ गई है, उन्हें हिन्दी का आधिपत्य वहन करना भाररूप बन गया है। कुछ लोग इसीलिये पूजे जाते हैं कि उन्हें अँग्रेजी बोलना और लिखना अच्छी तरह से आता है। यदि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाय तो उनकी मान्यता ही समाप्त हो जायगी।

इस तरह से दो प्रकार के लोग हिन्दी के विरोधी हैं, एक आत्महीनता की भावना रखनेवाले, दूसरे स्वार्थपरायण। परन्तु यदि हम अपने राष्ट्र को उन्नतिशील बनाना चाहते हैं, तो हमें अपने ही देश की किसी भाषा को राष्ट्रभाषा मानना होगा। जबतक किसी देश में एक भाषा नहीं होती, तबतक उस देश की जनता में एक से भाव भी नहीं होते। विदेशी भाषा से संपूर्ण राष्ट्र में एकता के भाव नहीं लाये जा सकते। फिर विदेशी भाषा हममें विदेशी संस्कृति, साहित्य और विदेशी जीवन से प्रेम बढ़ाती है और अपने आस-पास के लोगों के प्रति घृणा, उपेक्षा और हीनता के भाव उत्पन्न करती है। अँग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों के भाव अपने देहातियों के प्रति प्रायः वैसे ही हो जाते हैं, जैसे अंग्रेजों के थे। वे अपने मन में उनके प्रति सेवा करने की भावना को दृढ़ करने के बदले उनपर राज्य करने की आकांक्षा रखते हैं। ये सभी बातों में अँग्रेजों का नकल करना चाहते हैं और इसी में अपनी महानता देखते हैं। ऐसे लोग राष्ट्र के स्वाभिमान को नहीं बढ़ाते, अपितु उनमें हीनभाव उत्पन्न करते हैं। आज हमारे देश के सभी शिक्षा-विशेषज्ञ यह मानने लगे हैं कि जब से भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिली है, तब से देश का चारित्रिक ह्रास हुआ है। यदि हम इसके मूल कारण की खोज करें तो हम देखेंगे कि वह अपनी संस्कृति, वेशभूषा और भाषा के प्रति आदर के भाव का अभाव है। जिस व्यक्ति के मन में आत्मसम्मान के भाव की कमी रहती है, उसमें चरित्र के कोई गुण नहीं आते। यही बात राष्ट्र के विषय में भी सही है।

आज हिन्दी में यह क्षमता नहीं कि वह आधुनिक युग के सभी विचारों और विज्ञान की बातों को स्पष्ट कर सके। परन्तु यह क्षमता अचानक नहीं आती है। और यदि हम हिन्दी भाषा की वर्तमान कमी के कारण उसे राष्ट्रभाषा के पद से गिराना चाहते हैं तो उसके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र ही गिर जायगा।

कोई भी भाषा समृद्धशाली उसके उपयोग से होती है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जैसे-जैसे हमें अपने भावों को हिन्दी में व्यक्त करने के लिये नये-नये शब्दों की आवश्यकता होगी, तैसे-तैसे उनका निर्माण होते जायगा। इसी प्रकार अँग्रेजी भी बढ़ी है। एक समय था कि जब इङ्गलैंडकी राजभाषा फ्रेंच थी। तृतीय एडवर्ड ने १३४० ई० में पार्लियामेंट में यह घोषणा कर दी कि आगे कोई भी व्यक्ति राज्यसभा में फ्रेंच नहीं बोलेगा। इसी के परिणामस्वरूप अँग्रेजी भाषा की वृद्धि हुई। इसी प्रकार की घोषणा सरकार द्वारा भारतवर्ष में अँग्रेजी के विषय में किया जाना आवश्यक है। तभी हिन्दी शीघ्रता से आगे बढ़ेगी।

जो हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है, उसमें ये क्षमता होना आवश्यक है कि वह सभी प्रान्तीय भाषाओं के शब्द को अधिक-से-अधिक पचा सके। हमें अहिंदी प्रांत की भाषाओं को अधिक-से-अधिक जानना होगा। हमारे सौभाग्य की बात है कि इस समय दक्षिण के बहुत से विद्वान हिन्दी भाषा में अपनी स्वतन्त्र रचनाएँ कर रहे हैं।

भारतवर्ष के लोग भाषा सीखने में बड़े प्रवीण हैं और दक्षिण के लोगों की यह विशेषता है। उन लोगों ने अँग्रेजी में जैसी दक्षता प्राप्त की हिन्दी में भी उसी प्रकार दक्षता प्राप्त कर सकते हैं। जब दक्षिण के लोग हिन्दी में उत्तर भारत के लोगों से आगे बढ़ जायँगे, तब हिन्दी भाषा का विरोध समाप्त हो जायगा। परन्तु हिन्दी भाषा को अपना उचित स्थान मिलने के लिये एक नव-चेतना और जनजागृति की आवश्यकता है। अब देश सरकार जनता की सरकार हो गई है। जैसे-जैसे ग्रामीण जनता का प्रभाव सरकार के बनाने में बढ़ेगा वैसे-वैसे जनता की भाषा भी राष्ट्रभाषा बनेगी। जनता की शक्ति अब दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है। अतएव जनता की भाषा ही राज्यभाषा अनिवार्य रूपसे होगी। अँग्रेजी भाषा भारतवर्ष में केवल ५ प्रतिशत-द्वारा समझी जाती है और हिन्दी भाषा ७० प्रतिशत द्वारा। इस प्रकार जितनी जल्द हिन्दी राष्ट्रभाषा बनेगी देश के लिये वह उतनी ही हितकर होगी।

—डा० रामलालसिंह, हिन्दी-विभाग, सागर वि. वि.

अन्तरात्मा का दण्ड

मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग तथा अनेक प्रकार की दुर्घटनाएँ अन्तरात्मा के दण्ड के रूप में होती हैं। उसे इसीके कारण कभी-कभी भारी विपत्ति में पड़ना पड़ता है। इमरसन महाशय का कथन है कि जिस बातको हम एक मकान की गुप्त जगह में करते हैं, वही मकान के छत पर से चिल्ला-चिल्लाकर प्रकाशित की जाती है। हमारे मानसिक चिकित्सा के अनुभव बताते हैं कि इमरसन के इस कथन में मौलिक सत्य है।

अभी हाल में हमारे पास एक पंजाबी नवयुवक इस मानसिक परेशानी को लेकर आया कि उसे अपने ही घर में रहना भार-रूप इसलिए हो गया है कि वह घरकी स्त्रियोंमें, जिनमें, उसकी माँ, बहिन और भौजाई हैं नहीं रह सकता। उससे एकान्तमें बातचीत करने से पता चला कि जब कभी वह किसी की ओर देखता है, तो उसका ध्यान उनकी छातियों तथा गुप्तांगों की ओर जाता है। अपने ही समीप के सम्बन्धियों के गुप्तांगों के विषय में इस प्रकार बाध्य चिन्तन करने से बढ़कर आत्म-ग्लानि उत्पन्न करनेवाली बात और क्या हो सकती है। अपनी नजर स्त्रियों के गुप्तांगों पर न पड़े इसलिए वह सदा अपनी नजर नीचे किये रहता था। उसके ऐसे अजनबी व्यवहार से उसके सम्बन्धी बड़े व्यग्र होने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् उसे चित्त की एकाग्रता और स्मरण-शक्ति का ह्रास होने लगा। इसके कारण उसे अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उसे अब दूकान पर आजीविका कमाने के लिए बैठना पड़ा। परन्तु यहाँ भी उसका मन सब समयके लिए बेचैन रहता था। ऐसी ही मानसिक अवस्था में उसकी आँखें आ गईं। वह पास के अस्पताल में जब आँखों में दवाई डलवाने गया, तो कम्पाउण्डर ने भूल से उसकी एक आँख में कोई तेजाब से मिली हुई दवा डाल दी। दवा डालते ही उसे बहुत पीड़ा हुई। अतः दूसरी आँख में दवा नहीं डाली गई। इस दवाके परिणाम स्वरूप उसके आँख की पुतली सफेद पड़ गई। अतएव उसे इस आँख का इलाज एक विशेषज्ञ से कराना पड़ा।

जब यह रोगी हमारे पास पहिले-पहल आया, तब उसकी अवस्था बड़ी ही दयनीय थी। हमने उससे आनापानसति का अभ्यास कराया और स्वप्न लिखने को कहा। उसने छः महीने तक इस तरह चिकित्सा प्राप्त की। इस बीच उसने मनोविज्ञान की कई पुस्तकें पढ़ीं और मनोविज्ञानशाला की मीटिंगमें आया। धीरे-धीरे उसने अपने आपको समझने की चेष्टा की और अपनी दमित प्रवृ-

रियोंको जाना। इस रोगीने एक दिन अचानक अपने एक पुराने अनुभवको हमें कह सुनाया।

जब यह व्यक्ति पन्द्रह साल का था, तब वह घर की और सब लड़कियों के बाजू में बिस्तर लगाकर सोता रहता था। इन लड़कियों के प्रति उसके मन में अनेक प्रकार के कामुक भाव आते थे और जब लड़कियाँ सोई हुई रहती थीं, तभी वह उनकी छाती पर हाथ रख देता था। इस प्रकार वह अपनी वासना की तृप्ति करता रहा। एक दिन उसकी बाजू में अपनी सम्बन्धी लड़की के बदले उसकी शौतेली माँ सो रही थी। वह इस बात को नहीं जानता था और अर्द्धरात्रि के अन्धकार में उसने अपनी माँ के प्रति भी वही चेष्टा की, जो सम्बन्धी लड़की के प्रति करता था। जब सवेरे वह सोकर उठा, तो उसने देखा कि उसकी शौतेली माँ ही उसकी बाजू में सोई हुई है। इस पर उसे अपनी कुचेष्टा के लिए अत्यन्त ग्लानि हुई। उसने पहिले तो जान-बूझ कर सभी लड़कियों से मिलना-जुलना और उन्हें देखना छोड़ा। बाद में इस घटना को वह भूल गया। परन्तु अब उसे लड़कियों की ओर देखने से असाधारण भय का अनुभव होने लगा। उसे लगता था कि उसका विचार उनकी छातियों पर ही जाता है। वह अपने घर की स्त्रियों से ही नहीं, बल्कि सभी लोगों से आँखें चुराने लगा और इस दृष्टि को छिपाने की आन्तरिक आवश्यकता के रूप में उसे आँख का संकट भी आ गया।

रोगी-द्वारा उक्त आत्म-स्वीकृति के पश्चात न केवल उसकी दृष्टि-सम्बन्धी कठिनाई जाती रही, वरन् उसकी स्मरण-शक्ति, चित्तकी एकाग्रता और कार्य-क्षमता भी वापस आ गए। इतना ही नहीं जिस आँखकी दवा वह साल भरसे करा रहा था और जिसमें प्रर्याप्त सुधार नहीं हो रहा था, उसमें भी शीघ्रता से लाभ होने लगा।

जैसा उपर्युक्त नवयुवक को रोग हुआ था, उसी प्रकार का रोग एक पचास-वर्षीय साधु को भी हुआ था। ये हमारी चिकित्सा में आज से दस वर्ष पूर्व आए। वे जब किसी स्त्री या पुरुष से मिलते, तो उनका ध्यान उनकी गुप्तांगों में ही जाता। समाज में इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी। परन्तु वे अपने आपको उपर्युक्त मनोस्थिति के कारण समाज से सदा अलग रखते थे। समाज के लोग इसे उनकी साधुता का परिचायक मानने लगे। समाज से अलग रहने पर उनकी व्याधि की कमी न होकर और वृद्धि ही हुई। उन्हें अब स्नायुओं का खींचाव, सिर की पीड़ा, चित्त की अस्थिरता और सदा बेचैनी की अवस्था में रहने का रोग हो गया। उन्होंने जो आत्म-स्वीकृति की और जिससे इनका रोग समाप्त

हुआ, उससे यह निश्चित होता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा उसे अनुचित काम करने पर अवश्य दण्ड देती है।

जब ये साधु किशोर थे, तब धनी घर के लाड़ले बेटे होने के नाते अनेक प्रकार की काम-चेष्टाओं में निःशंकोच लगे रहते थे। घर की प्रतिष्ठा अच्छी थी। अतएव कोई इनके चरित्र पर सन्देह नहीं करता था। बीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने अपने एक मित्र की स्त्री से, उस स्त्री के प्रोत्साहन पर, व्यभिचार किया। इससे इन्हें इतनी आत्म-ग्लानि हुई कि उन्होंने घर-द्वार छोड़कर संन्यास ले लिया। उन्होंने सोचा कि इतने बड़े पाप का यही प्रायश्चित हो सकता है। उनका विवाह भी हाल ही में हुआ था। अपनी स्त्री को उन्होंने सब समय के लिए छोड़ दिया। तीस वर्षों तक इन्होंने अपना जीवन बड़ी पवित्रता से बिताया। इस बीच इन्होंने अनेक प्रकारकी साधनायें और जन सेवायें कीं। इनके इस प्रकार के कामों से अपने अनैतिक आचरण और तत्सम्बधी कृतियों का निराकरण न होकर उनका केवल दमन मात्र हुआ। जब किसी अनैतिक आचरण के लिए हम किसी प्रकार तपस्या जान-बूझ कर प्रायश्चित के रूप में करते हैं, और पुराने लज्जास्पद कृत को भुलाने की अपेक्षा उसे ध्यान में ही रखते हैं, तब हमारी उस प्रवृत्ति का निराकरण होता है, जिसके कारण हमने अनैतिक आचरण किया। परन्तु जब हम क्षतिपूर्ति के रूप में किसी प्रकार की साधना करते हैं, तब हमारी पुरानी प्रकृति का दमन मात्र होता है। यह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है और फिर वह रोग के रूप में प्रकाशित होती है। किसी प्रकार की साधना, लोक-सेवा और तपस्या से समाज में प्रतिष्ठा तथा आत्म-सम्मान का भाव बढ़ता है। इससे मनुष्य का अभिमान इतना बढ़ जाता है कि वह किसी को अपना गुरु मानने के लिए तैयार ही न होगा। ऐसा व्यक्ति कभी भी अपनी भूल को किसी से स्वीकार नहीं करता। उसकी भूल-स्वीकृति भी उसके अभिमान को ही बढ़ाती है। मनुष्य को उसी भूल-स्वीकृति से लाभ होता है, जिसे करते समय उसे प्रबल आत्म-ग्लानि का बोध होता है। ऐसी भूल-स्वीकृति अपने से छोटों के सामने नहीं, बल्कि ऐसे लोगों के सामने करनी पड़ती है; जिन्हें हम अपने से बड़ा मानते हैं। आध्यात्मिक महत्व रखने वाली भूल-स्वीकृति सामाजिक घोषणा नहीं होती; वरन् अपनी अन्तरात्मा तथा अपने गुरु के सामने दीनता पूर्ण समर्पण का भाव है।

उक्त साधु ने इस तरह की भूल-स्वीकृति किसी से नहीं की। इसके परिणाम-स्वरूप ही उन्हें स्नायुओं का खींचाव, सिर की पीड़ा और सदा मानसिक बेचैनी का रोग हुआ। उनका विशेष प्रकार का हठी विचार अर्थात् जननेन्द्रिय

के प्रति दृष्टि जाने का भाव अपनी इच्छा के प्रतिकूल उन्हें यह याद दिलाता था कि किसी क्षेत्र में उनसे भूल हुई है। उन्हें अपनी भक्ति-साधना में भी यही विचार दुःखी बनाए रखता था। जब वे अपने आराध्य का ध्यान करते, तो उनके गुप्तांगों पर ही उनका ध्यान जम जाता था। इस प्रकार वे न तो समाज में रह पाते और न अकेले ही कोई साधना कर पाते। अपनी भूल-स्वीकृति के पश्चात् उनके सभी रोग समाप्त हो गए। उनकी दमित प्रवृत्ति का उदात्तीकरण बच्चों और स्त्रियों की चिकित्सा के कार्यों में किया गया। ये अच्छे वैद्य और कुशल धर्मोपदेशक हैं और इनसे सैकड़ों लोगों का लाभ होता है।

विलियम स्टेकिल ने अपनी प्रेक्टिस आफ साइकोथेरेपी नामक पुस्तक में ऐसे कई उदाहरण दिए हैं, जिसमें अपने पैत्रिक संस्कार अथवा सुसत्व के प्रतिकूल आचरण करने से अनेक व्यक्तियों को नपुंसकता, दमा, हृदय का रोग, एकान्त में रहने का डर और आवाज से परेशानी का रोग उत्पन्न हुआ था। एक भारतीय नवयुवक ने, जो डाक्टरी पढ़ने वियेना गया था, अपने संस्कारों के विरुद्ध आमिष भोजन और वेश्यागमन शुरू कर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप उसके शरीर में फोड़ा-फुन्सी बेहद हुए और नपुंसकता आ गई। डाक्टरी चिकित्सा से उसका रोग और भी बढ़ता ही जाता था। उसे अनिद्रा भी सताने लगी। अन्त में उसे स्टेकिल की शरण लेनी पड़ी। विलियम स्टेकिल ने उससे अपनी कृतियों की स्वीकृति कराई और उसे अपने संस्कारों के अनुरूप आचरण करने की सलाह दी। ऐसा करने पर उसे प्रत्यक्ष लाभ हुआ। परन्तु जब उसने फिर से अपने पुराने कामों को प्रारम्भ कर दिया, तो उसे दूसरी बार भी पुराना रोग हो गया। एक दूसरे रोगी को दमा का रोग इसलिये हो गया था कि वह अपनी साली के साथ उसके पति को धोखा देकर व्यभिचार किया करता था। एक महिला को पानी गिरने की आवाज से असाधारण भय इसलिये हुआ था कि वह चालीस वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहते हुये अनैतिक मार्गों से अपनी वासना की तृप्ति करती जाती थी और गर्भ रह जाने पर उसे दवाइयों-द्वारा गिरा दिया करती थी।

उपर्युक्त सभी उदाहरण हमें यह बताते हैं कि जब हम कोई काम अपने पुराने संस्कारों तथा सुसत्व के प्रतिकूल करते हैं, तो हमें आत्मग्लानि अवश्य होती है। इस आत्म-ग्लानि को भुलाने से हमें कोई ऐसा रोग हो जाता है, जो प्रतीक-रूप से आत्म-ग्लानिजनक घटना का स्मरण कराता है। ऊपरी दृष्टि से देखा जाए, तो यह अन्तरात्मा का अपनो कुकृति के लिए दण्ड है। परन्तु मानसोपचार की दृष्टि से यह मूल रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है। रोग दमित

अवांछनीय प्रवृत्ति को किसी अप्रिय मार्ग से बाहर निकालते रहता है। इस प्रकार उस प्रवृति की शक्ति क्षीण होने पर मनुष्य का वह हार्दिक और बौद्धिक परिवर्तन होता है, जिसके कारण आत्म-स्वीकृति करना उसके लिए सम्भव होता है। जिस व्यक्ति को अन्तरात्मा के प्रतिकूल आचरण करने पर कोई मानसिक या शारीरिक रोग नहीं होता, उसमें विनय का भाव ही नहीं आता, जिसके कारण वह किसी विश्वसनीय व्यक्ति के प्रति आत्म-स्वीकृति करे। ऐसा व्यक्ति अपने अनजाने ही अतिपूर्त्तिकरण के रूप में असाधारण कार्य करता है। इससे उसकी कमी उसकी दृष्टि से ओझल रहती है। परन्तु अन्त में ऐसे व्यक्ति के जीवन में कोई भारी दुर्घटना होती है और इससे इसे बहुत कष्ट उठाना पड़ता है अथवा मृत्यु-दण्ड ही भोगना पड़ता है। सुदामा ने कृष्ण से चुराकर चने खाए, तब असाधारण पांडित्य प्राप्त करने पर भी उन्हें अपना जीवन गरीबी में व्यतीत करना पड़ा। उनकी यह गरीबी तब तक नहीं गई, जब तक कि उनकी मानसिक ग्रन्थि को कृष्ण ने हँसते हुए पुरानी बात की याद कराकर नहीं खोला। लेखक के एक मित्र ने अपने संस्कारों के प्रतिकूल सफल सरकारी चोरी की। सरकार की दृष्टि से अपने आपको तो वे बचा सके, परन्तु वे अपने को अन्तरात्मा के दण्ड से न बचा सके। उन्हें पुलिस का इतना असाधारण भय हो गया कि वे इस भय के कारण पागल होकर मर गए। अतएव हमें अपने रोग को अपना मित्र ही मानना चाहिए, जो थोड़े दण्ड से ही हमें बड़ी-बड़ी आपत्तियों से बचा लेता है।



शिक्षाका नवनिर्माण

प्राचीन काल में शिक्षा मानव की सम्पूर्ण शक्तियों के विकास का साधन समझा और माना जाता था। वही शिक्षा आदर्श मानी जाती थी, जो आत्मा को आँज, मन को माँज, हृदयको हरा-भरा और शरीर को पूर्णतया शोध सके। बात भी वास्तव में ठीक है, कारण कि इस मानव पुतले में शरीर, मन, हृदय और आत्मा का अस्तित्व है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि शिक्षा मानव की पूर्णता की अभिव्यक्ति है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में हम देखते हैं कि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के विकास पर अधिक जोर दिया जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप हृदय-सरोवर सुख रहा है और आत्म-प्रदेश मानवीय उत्तम गुणों के अभाव में मरुस्थल-सा बन रहा है। यही कारण हैं कि लोग मनोविकारोंके अधिक शिकार बनते हैं और अर्थकरी विद्या का बोल-बाला है।

अस्तु ऐसी दशा में हमें देखना है कि हम किस प्रकार शिक्षा का नवनिर्माण करके भारतका नवनिर्माण कर सकते हैं। कृषि-क्षेत्र में फसलके बीजों के आन्तरिक तत्वों को कृषि-कर्म द्वारा विकसित, अंकुरित, और फलित किया जाता है। शिल्प-क्षेत्र में शिल्पकार अपनी छैनी-द्वारा अनगढ़ पत्थर को सुंदर मूर्ति का रूप प्रदान करता है। इसी प्रकार शिक्षाक्षेत्र में शरीर, मन, हृदय तथा आत्मा के आन्तरिक तत्वों को विकसिक और पुष्पित किया जाता है और मूर्तिकार की भाँति बालों की अनगढ़ आत्मा को शिक्षा के माध्यम से सुघर व सुंदर बनाया जाता है।

इस मानव-पुतले में तीन धाराओं का संचरण हो रहा है, एक तो वृत्तियों की धारा, दूसरी प्राणों की धारा और तीसरी वासनाओंकी धारा। प्राचीन काल में इन तीन धाराओं के याम तथा संतुलन से शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति समझी जाती थी। मानव-मन में वृत्तियों और विचारों की धारा चलती रहती है और उसमें बाह्य और अन्तर्मुखी वृत्तियों का संचरण होता रहता है। अतएव इन वृत्तियों की धाराओं को अन्तर्मुखी बनाना आवश्यक है और वृत्ति अथवा मनोयाम करना जरूरी है। इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि हम बाहरी वातावरण से बिल्कुल संपर्क ही न रखें। संपर्क अवश्य रखें, परन्तु माँस को जगाकर और आत्मा को सुलाकर नहीं। क्रिया-शीलता और गत्यात्मकता भरी-पूरी रहे ताकि जीवन में जंग न चढ़ सके। इस प्रकारके मनोसंस्कार से मानसिक शक्तियों का सम्पूर्ण विकास होगा।

दूसरी प्राणोंकी धारा है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, और सूत्रात्मा इन ग्यारह प्रकार के प्राणों के संचारसे यह शरीर-रूप रथ सुचारु रूप से चल रहा है। हम यह बात जानते ही हैं कि प्राण और मन का निकटतम सम्बन्ध है। प्राणों के याम से ही मन की चंचलता दूर हो सकती है और प्राणी विषयों और विकारों से बच सकता है। इसके द्वारा मनोविकारों का मार्गान्तरीकरण एवम् उदात्तीकरण हो सकता है।

तीसरी वासनाओं की धारा है। सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी वासनाओं का तांता चलता रहता है। चंचलता के प्रतीक रजोगुण तथा अज्ञानांधकार के प्रतीक तमोगुण से हृदय और आत्मा में अविद्या का आवरण छा जाता है। इसलिए हमारे यहाँ के ऋषियों ने जीवन में सतोगुणी वासनाओं को प्रस्थापित करने पर अधिक जोर दिया है। इसीलिये गीता में भगवानने उचित ही कहा है—'अनेक जन्म संसिद्धिस्ततोयाति परांगतिम्' अर्थात अनेक जन्मों के सात्विक जीवनसे परमगतिकी प्राप्ति होती है। आज हम देखते हैं कि विज्ञानकी आँच से मानव-हृदय का सरोवर सूख रहा है। मानव दानव बन रहा है। हृदय की उदात्त वृत्तियों मुरझा रहीं हैं। केवल पंच कलाओं की शिक्षा से हृदय सुसंस्कृत नहीं हो सकता। उसके लिए गुरु और शिष्य में त्याग-तपस्या और सेवा वृत्तियोंका अपनाना आवश्यक है। इतना ही नहीं, वरन् श्रद्धा, तप, त्याग और आचार के प्रतीक गुरुओं की आवश्यकता है। दूसरे धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देने से हृदय का सुसंस्कार हो सकता है। शिष्यों को भी गुरुओं के गुण, कर्म और स्वभाव अपनाना जरूरी है। आज की शिक्षा धर्म और ईश्वरके अभाव में मानवों में देवत्व भरने के बजाय दानवत्व की ओर ढल और ढुल रही है।

मनोयाम, प्राणायाम और वासनायाम निरंतर अभ्यास तथा वैराग्य भावना से संभव हो सकता है और इन यामों के द्वारा मानव - जीवन में उष्णता एवम् प्रकाश का प्रादुर्भाव हो सकता है। प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा पुनः स्थापित करने से शिक्षा क्षेत्रकी कई समस्याएँ, जैसे अनुशासन हीनता एवं अश्रद्धा आदि सरलता से हल हो सकती हैं। भारतीय संस्कृति की जलवायु के अनुकूल ही भारत में शिक्षा पनप सकती है। अतएव सभी दृष्टियों से शिक्षा का भारतीयकरण एवम् अध्यात्मीकरण होना नितान्त आवश्यक है। इसी शिक्षा के नवनिर्माण से हम भारत के नवनिर्माण का मीठा सपना सत्य में परिणत होता हुआ देख सकते हैं और इसी में भारत की आन, बान और शान है।

—प्रो० शारदाप्रसाद वर्मा, एम० ए० बी० टी०

राष्ट्र-निर्माण के आधार तत्व

राष्ट्र-निर्माण के आधार-तत्व वे ही होते हैं, जो व्यक्ति के होते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का सार-भाग उसका चरित्र है। शरीर की कमी और बुद्धि की कमी मनुष्य को दुःखी और निकम्मा अवश्य बनाती है, परन्तु ये कमियाँ उतनी घातक नहीं सिद्ध होतीं, जितनी चरित्र की कमियाँ। जिस मनुष्य ने अपना चरित्र खोया, उसने अपना सब कुछ खो दिया। यह बात जिस प्रकार व्यक्ति के विषय में सही है, उसी प्रकार राष्ट्र के विषय में भी सही है। राष्ट्र में धन और विद्या की कमी शोचनीय अवश्य हैं, परन्तु राष्ट्र में चरित्र की कमी उसके जीवन के चलने में ही बाधा हो जाती है।

यह चरित्र का निर्माण कैसे हो? व्यक्ति और राष्ट्र में चरित्र-गुण कैसे आए। यही हमारी खोज का प्रधान विषय है। चरित्र-बल इच्छा-शक्ति का बल है? चरित्र की दृढ़ता इच्छा-शक्ति की दृढ़ता है। यह दृढ़ता मनुष्य को तभी होती है, जब वह अपनी कुछ विशेषता रखता है और अपने चुने हुए लक्ष्य की प्राप्ति में पूरी लगन से लगा रहता है। जिस व्यक्ति को अपनी कोई विशेषता नहीं, जिसने स्वतंत्रता से सोचकर अपने जीवन का कोई लक्ष्य निर्णय नहीं किया है, जिसका जीवन केवल उदर-पूर्त्ति के साधनों की प्राप्ति में जाता है अथवा जो अपने आदर्श के हरेक बातों में दूसरे का अनुकरण करता है, उसमें चरित्र की कोई दृढ़ता होनी संभव नहीं। हरेक व्यक्ति के व्यक्तित्व की बनावटें जन्म से ही विशेष प्रकार की होती है। उच्चकोटि का व्यक्ति अपने गुण-कर्मों को समझता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने जीवन के लक्ष्य और कार्य-क्षेत्र को चुनता है। अपने आपको समझने और अपने लक्ष्य के चुनाव में जो व्यक्ति जितना ही अधिक समय लगाता है, वह अपने चुने लक्ष्य की प्राप्ति में उतना ही अधिक मानसिक शक्ति खर्च कर सकता है। हरेक व्यक्ति अपनी कोई विशेषता रखता है और यदि वह बुद्धिमान है, तो अपनी विशेषता के अनुसार ही अपने जीवन का लक्ष्य चुनता है। जो व्यक्ति न तो अपनी विशेषता को जानने की चेष्टा करता है और न उसकी वृद्धि ही करता है, वह इच्छा-शक्ति में कदापि दृढ़ नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी विशेषता का गर्व होता है और इसे पूर्णता की ओर ले जाने से उसे आनन्द की अनुभूति होती है। जिस व्यक्ति को अपनी विशेषता की जानकारी करने से गर्व की अनुभूति नहीं होती और जिसे उसकी इस विशेषता को पूर्णता की ओर

ले जाने में आनन्द नहीं होता, वह व्यक्ति समाज को कुछ भी नहीं दे पाता, वरन् अपना जीवन भी भार-रूप बना लेता है।

जो बात एक व्यक्ति के विषय में सही है, वही राष्ट्र के विषय में भी सही है। हम किसी भी राष्ट्र को उसकी उपज बढ़ाकर अथवा अर्थकरी विद्या का प्रसार कर बड़ा नहीं बना सकते हैं। इसे बड़ा और प्रबल बनाने के लिए इसके नागरिक का चरित्र-निर्माण करना होगा। चरित्र उसी व्यक्ति को होता है, जिसे स्वाभिमान होता है। इसी प्रकार उसी राष्ट्र को चरित्र होता है, जिसे अपनी विशेषता अर्थात् अपने इतिहास, विशेष संस्कृति, परम्परा, वेश-भूषा और भाषा का अभिमान होता है। जो राष्ट्र इन सबों को कलंक के रूप में ढोते रहता है, उसमें चरित्र के गुण कभी नहीं आते, जो उसे स्थायी स्वतंत्रता प्रदान कर सकते हैं और जिनके कारण वह दुनिया को अपनी कुछ मौलिक देन दे सकता है। जब किसी राष्ट्र के पढ़े-लिखे लोग अपनी सभी बातों में बुराई-ही-बुराई देखने लग जाते हैं, जब उन्हें न तो अपने धर्म का, न इतिहास का, न तीर्थों, परम्पराओं अथवा संस्कृति का कोई गर्व रहता है, जब किसी राष्ट्र के लोग देशी पोशाक पहिनकर अपने को हीन समझते हैं और विदेशी जामा पहनने पर अपने को उन्नत समझने लगते हैं, जब वे देशी भाषाओं की और मातृ-भाषा की अवहेलना करके विदेशियों की समृद्धशाली भाषाओं को राष्ट्र-भाषा बनाने की चेष्टा करते हैं, तब उनमें एक ऐसी प्रबल आत्म-हीनता का भाव आ जाता है, जिसके कारण संसार का कोई भी व्यक्ति उनका सम्मान नहीं करता।

संसार में उसी व्यक्ति का सम्मान होता है, जो अपना सम्मान स्वयं करता है। जो स्वयं अपने आपको हीन समझे हुए है, उसे हीन कौन न समझेगा। यदि स्वयं किताब का लेखक कहे कि मेरी पुस्तक के दाम दो रुपए हैं, तो उसके लिए पाँच रुपए कौन देगा? इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र के लोग कहने लग जाएँ कि हम संसार के सबसे बड़े निकम्मों में से हैं और अपने आपको सुधारने के लिए ये लोग दूसरे राष्ट्रों का अनुकरण मात्र करें, तो ऐसे राष्ट्र का आदर कौन करेगा? और क्या सचमुच में इस प्रकार राष्ट्र बली बन सकता है?

आज भारतवर्ष में अनेक प्रकार की कमियाँ हैं। यह राष्ट्र निर्धन है, यहाँ पढ़े-लिखों की संख्या कम है, समाज में अनेक प्रकार की कुरीतियाँ हैं और फूट की ओर अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। वेश-भूषा में यहाँ के लोग फूहड़ दिखाई पड़ते हैं और यहाँ की भाषाएँ अविकसित हैं। परन्तु सबसे बड़ी कमी यदि इस राष्ट्र की है, तो वह अपनी महानता का अज्ञान है और इस महानता को दृष्टि से ओझल करना अपने स्वाभिमान को खोना है। सौभाग्य की बात है कि

यह कमी भारतवर्ष की पंचानब्बे प्रतिशत जनता की नहीं, वरन यह उन पाँच प्रतिशत लोगों की कमी है, जो उन जनता पर राज्य करते हैं। ये पाँच प्रतिशत लोग अपने देश की जनता को उनकी कमियों के कारण हीन-भाव से देखते हैं और इसीलिए वे वहिर्मुखी बन गए हैं। वे सोचते हैं कि हम यूरोपीय पोशाक को ही अपना राष्ट्रीय पोशाक क्यों न बना लें और अँग्रेजी भाषा को ही क्यों न अपना राष्ट्रीय भाषा बना लें। जिस प्रकार यूरोप ने विज्ञान और कल-कारखानों की वृद्धि करके अपने को संसार में प्रमुख बना लिया, उसी प्रकार हम भी क्यों नहीं अपने देश में वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार करके एवं उद्योगीकरण बढ़ा कर राष्ट्र को समृद्धशाली बना लें। हम वास्तव में इसी काम में लग गए हैं। परन्तु इस प्रकार की महानता स्थायी और ठोस नहीं होती। प्रतिकूल परिस्थितियों के पड़ने पर यह क्षण-भर में बालू की भीत जैसी ढह जाती है।

काशी विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए भारत के सुप्रिम कोर्ट के भूतपूर्वक न्यायाधीश श्रीपातञ्जलि शास्त्री ने कहा कि जब से हमें स्वतंत्रता मिली है, तबसे भारतवर्ष का चारित्रिक ह्रास हुआ है और इस चारित्रिक ह्रास का कारण हमारी अभारतीय शिक्षा-प्रणाली है। इस कमी की पूर्त्ति तभी हो सकती है, जब हमारे विद्यालयों में ऐसी शिक्षा दी जाए, जिससे कि भारतवर्ष के बालकों का अपने प्राचीन ऋषियों से सम्पर्क स्थापित हो और उनमें अपनी प्राचीन महानता का भाव जाग्रत हो। इसके लिए महाभारत के वीरों की कथाएँ सिखाई जानी चाहिए और उनके धर्मोपदेशों को पाठ्य-विषय में स्थान दिया जाना चाहिए। वास्तव में भारतवर्ष का स्वाभिमान जागृत हुए बिना इसका वास्तविक नवनिर्माण नहीं हो सकता है और इसके लिए विद्यार्थियों को इस देशकी संस्कृति का मौलिक ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। जब अंग्रेज भारतवर्ष पर राज्य करते थे, तो हमें उनकी नकल पर-वश में होकर करना पड़ता था। हमें अँग्रेजी भाषा आजीविका कमाने के लिए सीखनी पड़ती थी। अपने साहबों को खुश रखने के लिए हमें उन्हीं के जैसे कपड़े भी पहनने पड़ते थे। परन्तु आज जब हम राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके हैं, तब भी यदि हम अँग्रेजों की सांस्कृतिक दासता में बने रहें, तो यह हमारे चरित्र के विनाश का द्योतक नहीं तो और है क्या? आज हमारे देश के महारथियों का ध्यान राष्ट्र-भाषा की कमियों पर अवश्य जाता है, परन्तु यह केवल इसलिए ही कि वे अँग्रेजी के मोह से मुक्त होना नहीं चाहते। हिन्दी भाषा की कमियों की चर्चा करनेवाला कोई भी व्यक्ति उन कमियों को हटाने की कोई योजना प्रस्तुत नहीं करता। वह केवल इतना ही चाहता है कि हिन्दी-प्रेमियों से इन कमियों

की स्वीकृति कराकर देश में अँग्रेजी का साम्राज्य बनाए रक्खें। यह बात किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए लज्जास्पद है। यह राष्ट्र के सांस्कृतिक स्वाभिमान को समाप्त कर देता है और इस स्वाभिमान के साथ-साथ राष्ट्र के सभी चारित्रिक गुणों का विनाश ही कर देता है।

जो नवयुवक अपने राष्ट्र को महान बनाना चाहते हैं, उन्हें उसी ठोस धरातल पर चलना पड़ेगा, जो भारतीय इतिहास-परम्परा, भारतीय संस्कृति, भारतीय कला, साहित्य और भाषाओं का बना है। इसी के आधार पर भारत के पञ्चानवे प्रतिशत जनता को नए-नए आदर्शों से अनुप्राणित किया जा सकता है। भारतवर्ष की जनता के लिए विदेशी बनकर हम उनका कौन-सा कल्याण कर सकते हैं। यदि हम विदेशी विचार, विदेशी भाषा और वेश-भूषा लेकर देहात की जनता में जाएँ, तो उनमें हीन-भाव जगाने के सिवा और करेंगे ही क्या और जब हमने उनमें हीन-भाव जागृत कर दिया, तब उनमें चरित्र का कोई सद्गुण कैसे अंकुरित हो सकता है। अँग्रेजी में कहावत है He can who thinks he can. जिस व्यक्ति में स्वाभिमान और स्वावलम्बन का नाम नहीं होता, उसमें किसी सामर्थ्य का उदय भी नहीं होता और स्वाभिमान की रक्षा अपनी विशेषता के खोने से नहीं, अपितु उसकी वृद्धि करने से ही होती है। यही राष्ट्र के नवनिर्माण की आधारशिला है।

स्मरण-शक्ति का सुधार

आज से कुछ दिन पूर्व इन्टर का एक विद्यार्थी जिसकी उम्र १६ वर्ष की है अपने चित्त की एकाग्रता की कमी की व्याधि लेकर आया। यह विद्यार्थी आंध्र प्रांत का है। इसके पिता एक कारखाने में नौकर हैं। विद्यार्थी को छोटे भाई भी हैं। वह सबसे बड़ा लड़का है। यह विद्यार्थी सदा प्रथम श्रेणी में पास होता रहा। अपने स्कूल में वह कक्षा में सर्व प्रथम रहा। पिता ने उसे काशी विश्वविद्यालय इसलिये भेजा कि वह प्रथम श्रेणी में पास होने पर सरलता से इञ्जीनियरिंग कालेज में भरती हो सकेगा। उसने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में ही पास की। अब दूसरी साल वह बहुत परिश्रम करता था। परीक्षा का समय समीप आया, परन्तु वह देखता है कि उसने अपने चित्त की एकाग्रता ही खो दी। उसे सभी संसार सूना जैसा हो गया। वह अपने कर्तव्य के प्रति पूरी तरह से सचेत था, परन्तु वह कुछ भी नहीं कर पाता था। उसे परीक्षा में फेल हो जाने की कल्पना इतना त्रास देने लगी कि वह मृत्यु तक का आवाहन करने लगा। उसकी नींद जाती रही। वह रातभर जगता और पुस्तक पढ़ने का प्रयत्न करता, परन्तु वह पुस्तक के वाक्यों का अर्थ ही न समझ पाता। उसकी भूख भग गई और भय के मारे वह पीला पड़ गया।

मनोविज्ञानशाला में आने पर उसकी मानसिक स्थिति का अध्ययन किया गया। उसके मन की सभी बातों को सहानुभूतिपूर्वक सुना गया। खाने-पीने के लिये चाय और नास्ता दिया गया। अपनी बात कहते हुए उसने एक बार कहा कि मुझे इतना प्रेम अपने पिता से भी नहीं मिला, जितना आपसे मिल रहा है। उसका इस प्रकार का अनुभव करना शुभसूचक था।

उसकी कामवासना-सम्बन्धी और प्रेम-संबंधी सभी बातों का अध्ययन किया गया। उसका जीवन बड़ा ही पवित्र था। परन्तु उसके जीवन में प्रेम की कमी थी। स्वप्नों का अध्ययन करने से पता चला कि वह अपने ही कक्षा के एक मित्र के व्यवहार से दुखी हो गया था। वह दूसरे लोगों-द्वारा पीछा किया जाना और उनसे बचने की चेष्टा करना अपने स्वप्न में अकसर देखता था।

इस व्यक्ति से शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया। इस पर उसे नींद आ गई। इससे यह निश्चित हो गया कि वह स्वास्थ्यलाभ शीघ्र ही कर लेगा। उसे बताया गया कि वह इस अभ्यास को प्रतिदिन करे। इसके अतिरिक्त उसे मैत्री-भावना का अभ्यास करने को कहा गया। उसे बताया गया कि वह अपने से छोटी कक्षा के किसी विद्यार्थी को पढ़ाने लगे। वह अपने मित्रों को

चाय-पानी पिलाए। सोते समय सभी मित्रों के प्रति शुभकामना के भाव भेजे।

दो दिन के पश्चात् इस विद्यार्थी ने बताया कि वह अपने एक पुराने साथी के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास नहीं कर पा रहा है। वह साथी बड़ा ही स्वार्थी है। वह उसे सदा चिढ़ाने की चेष्टा करता है। हाल ही की बात है कि उसने एक लिखने के पेड के ऊपर, जिसे इस विद्यार्थी ने अपने एक दूसरे मित्र को उपहार में दे दिया था, एक व्यंग चित्र बनाया। इस चित्र में इस विद्यार्थी और उसके मित्र को वेडमिंटन खेलते हुए दिखाया गया था। उसके नीचे लिखा था Badmington is an indoor game अर्थात् वेडमिंगटन घर के भीतर खेलने का खेल है। इस बात को पढ़कर इसे बड़ा क्रोध आया।

इस विद्यार्थी से कहा गया कि उक्त चिढ़ानेवाला व्यक्ति उसे हृदय से प्यार करता है। वह केवल इस बात का ईर्ष्यालु है कि वह दूसरे मित्र को अधिक प्यार करने लगा। उसका व्यंग चित्र बनाना ही इस बात का द्योतक है कि वह उससे हृदय से प्यार करता है। अन्यथा वह उस चित्र को बनाने में इतना परिश्रम क्यों करता। उसने आपत्ति की कि यदि वह उक्त मित्र के प्रति भला व्यवहार भी करेगा, तो वह उसकी खिल्ली उड़ावेगा, और उसका मन इस विद्यार्थी के प्रति नहीं बदलेगा। उसकी आपत्ति के उत्तर में उससे कहा गया कि तुम अपने प्रेम के विचारों को भेजते जाओ। ये विचार रेडिओ की लहरों के समान दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में टकराते हैं और उसके अनजाने ही उसके स्वभाव में परिवर्तन कर देते हैं। जो व्यक्ति इस बात में जितना अधिक विश्वास करता है, वह उतना ही अधिक अपने विचारों का बल बढ़ा लेता है। फिर दूसरे लोग उसी प्रकार सोचने और आचरण करने लगते हैं जिस प्रकार वह चाहता है।

उक्त विद्यार्थी के मन में यह बात बैठ गई और रात को सोते समय उसने अपने मित्र के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास किया। उसने उसी रात एक स्वप्न देखा। उस स्वप्न में उसने देखा कि उसके घर पर उक्त मित्र आया है घर पर कोई उत्सव है और दावत दी गई है। दावत में उसका मित्र शामिल है। वह स्वयं उसे परोस रहा है। उसकी नींद खुल गई। वह फिर नहीं सो सका। विस्मयपूर्वक वह उसी घटना को सोचते रहा। सबेरे ६ बजे ही उसका उक्त मित्र वास्तव में उसके घर आया और उसने उससे गणित की एक पुस्तक माँगी। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह दूसरे लोगों से भी उस पुस्तक को प्राप्त कर सकता था। वह अपने अभिमान को इस प्रकार खोकर उसके पास आ जावेगा, इसकी कल्पना वह नहीं करता था। इसके बाद दोनों मित्रों की घनिष्ठता बढ़ती गई और फिर विद्यार्थी का मन पढ़ाई में खूब लगने लगा।

मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार

क्षयरोग से मुक्त होने का मेरा अनुभव

बी० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात मैं एक स्थानीय पत्रिका में काम करने लगा। परन्तु उससे भी सन्तोष नहीं हुआ। पुनः अध्ययन करने लगा। आशा थी कि अध्ययन समाप्त होते ही कोई-न-कोई कार्य करने लगूँगा। परन्तु १० महीने तक नौकरी के चक्कर में भटककता रहा। मगर सफलता न मिली। इसी बीच मुझे जुकाम-खाँसी हो गई, मगर अधिक दौड़-धूप के कारण उचित चिकित्सा भी नहीं कर पा रहा था। इस प्रकार एक महीना व्यतीत हो गया। मेरे घरवालों को मेरे गिरते स्वास्थ्य को देखकर बड़ी चिन्ता हुई। मैं भी उद्विग्न हो उठा। अब जीवित नहीं रहूँगा। यह सोच-सोचकर मैं अब अत्यधिक परेशान रहने लगा। अब नौकरी की चिन्ता कहाँ। अब हर समय क्षय का अकारण भय हृदय में समाया रहता था। तीन-चार प्रसिद्ध चिकित्सकों के पास गया। मगर सभी ने कहा कि इस तरह की कोई बात नहीं है। परन्तु इन लोगों के बार-बार समझाने पर भी क्षय के विचार मेरे मन से नहीं निकले। धीरे-धीरे मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मुझे संध्या समय ज्वर हो जाता है। पाचन-क्रिया ठीक नहीं रहती। दो-एक बार खाँसी आ जाती है। सोने में कभी-कभी भीषण दर्द होने लगता है। इत्यादि बातों से मैं और मेरे परिवार के सभी लोग चिंतित हो उठे। मैं खाने-पीने में बड़ा सतर्क रहता था। परहेज का भोजन खाता। गर्म किया हुआ जल पीता, तथा कोई ऐसी चीज न खाता जिसके सम्बन्ध में सुन लिया था कि इसके खाने पर जुकाम हो जाता है। इस तरह घर में मेरे लिये अलग भोजन बनाया जाता। देखा जाय तो मेरा सारा व्यवहार मरीजों जैसा होता था। मैं कुछ समय तक पहले मनोविज्ञान का अध्ययन कर चुका था। परन्तु उसके व्यावहारिक पहलू से एकदम अनभिज्ञ था। अपने मनोविज्ञान के शिक्षक महोदय का उस विषय पर कई भाषण भी सुन चुका था। जिसकी स्मृति का कुछ विशेष अब तक बाकी था। जब मैं मानसिक परेशानी में था, तो मैंने अपने शिक्षक महोदय की लिखी 'आधुनिक मनोविज्ञान' का पढ़ना आरंभ किया। जैसे-जैसे पुस्तक पढ़ता गया, तैसे-तैसे मुझे ज्ञात हुआ कि उस पुस्तक में वर्णित मानसिक रोगियों की मार्मिक घटनाएँ मेरे जीवन में घटित हुई है। पुस्तक के पढ़ने से मुझे प्रोत्साहन भी मिला। मेरे मन में विचार आया कि यदि वे रोगी अच्छे हो गये, तो क्या मैं अच्छा नहीं हो सकता। स्वयं पुस्तक के लेखक की

क्षय रोग-संबंधी घटना ने मुझ पर विशेष प्रभाव डाला। अपने चिकित्सकों के उत्तर के बाद मुझे यह विश्वास हो गया कि वस्तुतः मैं शारीरिक रोग नहीं, अपितु मानसिक रोग का रोगी हूँ। अतएव मैं अपने शिक्षक महोदय से मिला और उनसे सारी बातें कह सुनाई। उनसे बातचीत करते ही मुझे ऐसा बोध हुआ कि मुझे कुछ हुआ ही नहीं है, क्योंकि मुझे क्षय से इतना भय हो गया था कि तत्सम्बन्धी जितने विचार मेरे मन में आये थे—मारे भय के किसी से प्रकट नहीं करता था। यहाँ तक कि डाक्टर के पास जाने में घबड़ाता था। एक बार डाक्टर को नाड़ी दिखाते समय मेरा हृदय जोरों से धड़कने लगा। डाक्टर के 'नहीं' कहने पर कुछ सान्त्वना हुई। परन्तु घर आते ही फिर वही पहले की अवस्था। मैं शिक्षक महोदय के घर से ८ मील की दूरी पर रहता था। वहाँ से पैदल मैं उनके पास आया। सारी बातें कह सुनाईं। मुझे यहाँ पर मालूम हुआ कि मैं ही उस प्रकार का मानसिक रोगी नहीं हूँ, अपितु मेरे समान और बहुत से रोगी यहाँ आ चुके थे और उन्होंने स्वास्थ्य-लाभ किया था। मुझे पंडितजी से वार्तालाप करके बड़ा संतोष हुआ और मैं हर रविवार को पंडितजी के पास आने लगा और उन्हीं के आदेशानुसार रहने लगा। मैं अपने को बड़ा ही क्षीण और कमजोर समझता था। फिर भी मैं उतनी दूर पैदल चलकर पंडित जी के पास आता, दिनभर उन्हीं के यहाँ रहता, विभिन्न विषयों पर वार्तालाप करता तथा अनेक मानसिक रोगियों के विवरणों को पढ़ता एवं सुनता रहा। इस प्रकार मुझे अपने मानसिक विचार का पूरा पता चल गया। मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे गत-जीवन की घटनाएँ, जो कि विस्मृत हो चुकी हैं, मेरे उस रोग के कारण है। अतएव उन्हें सोचना शुरू किया। जितनी काम-जीवन संबंधी मुख्य बातें थीं, उनको मैंने निःसंकोच कह डाला तथा जितनी कमजोरियाँ मैं अपने में पाता था, जिनको प्रकट कर देने में मेरे सम्मान को ठेस पहुँचता था, एक-एक कर सुनाने लगा। इस तरह अपने दाम्पत्य-जीवन की भी कोई बात छिपा न रखी। इसी बीच जितने स्वप्न आते गये उनका भी उल्लेख करता था तथा प्रत्येक घटनाओं, तथा स्वप्नों का क्या महत्व है, इसे बार-बार समझने की कोशिश करता रहा।

मैं जिस समय अपनी गुप्त घटनाओं को कहता, उस समय मैं बहुत उद्विग्न हो उठता था। अतएव इन घटनाओं को पंडितजी ने लिखने के लिए कहा। मगर लिखते समय भी मैं अत्यधिक घबड़ा उठता था और लेखनी रुक जाती थी। मगर मैं पुनः उस घटना को याद करता और सोचता कि यह तो मानव-जीवन का एक अंग है। मेरे में यह कोई विशेष बात नहीं है, तब फिर लिखने लगता। इस प्रकार मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि मुझे जो कुछ कहने में कठिनाई होती थी,

उसे लिखकर दिखाने में बड़ी सुविधा हुई और आज से अपने बाल्यकाल तक की घटनाएँ मैंने लिख डाली। जिसकी मुझे कभी आशा न थी और सोचता था कि मेरे जीवन में हुआ ही क्या है। परन्तु लिखते समय अनेक भूली हुई बातें याद आ गईं। उनके स्मरण होने पर ज्ञात हुआ कि इतनी घटनाएँ विस्मृत होकर मेरे अचेतन मन में पड़ी थीं। अपने जीवन की घटनाओं को लिखने का मुझे शिक्षक महोदय से आदेश मिला। उन्होंने कहा कि 'आधुनिक मनोविज्ञान' को फिर से पढ़ो और जो-जो भावमय बातें अनायास मन में आती हैं, उन्हें लिख डालो। उसे लिखने के कार्य में क्रम-बद्धता का पालन आवश्यक नहीं है।

अपने शिक्षक महोदय के आज्ञानुसार जब-जब मैं बनारस आता गंगा के किनारे टहलने चला जाता और वहां का दृश्य आधे घंटे बैठकर देखा करता तथा वहाँ से लौटने पर सोते समय एक बार उन दृश्यों का स्मरण कर लेता। स्नान करना भी मैंने एक दम बन्द कर रखा था। जाड़े का दिन था। अतएव बेर और अमरूद भी न खाता था। अब रास्ते में इन्हें खरीद कर अपने साथियों के साथ खाने लगता—साथियों को भी यह देखकर आश्चर्य होता। खैर यह क्रम बराबर चलता रहा और अबसे मैं नियमित स्नान करने लगा। मैं अपना एक समय का भोजन भी नहीं छोड़ पाता था। अब शिक्षक महोदय के आदेशानुसार रविवार को व्रत रहने लगा। पहली बार मुझे कुछ कठिनाई हुई, मगर दूसरी बार से आदत-सी हो गई। मैंने अपने जीवनमें कभी भी उपवास नहीं किया था। भले ही कभी खाने के अभाव में किसी दिन न खाया हो। परन्तु उस तरह व्रत नहीं रखा था। एक बार घरवालों ने एक पूजन में व्रत रखने को कहा था, मगर मैं न रह सका। परन्तु अब मेरे लिए यह साधारण-सी बात हो गई। अपनी उस इच्छा पर आसानी से नियंत्रण कर लिया। तभी से अब बराबर रविवार के दिन व्रत रहा करता हूँ।

मैं उस बेकारी के समय पैसे के अभाव में बड़ा परेशान था। दो बार मैंने इसलिए काम छोड़ दिया कि परिश्रम के अनुसार पैसा नहीं मिलता। मैं अपने हर-एक कार्य का मूल्य पैसे की दृष्टि से ही आँकता, भले ही मैं बेकार रहूँ। मगर पण्डित जी ने मेरी वास्तविक स्थिति का मुझे ज्ञान कराया कि मैंने अब तक अपने लिये क्या किया है। उसमें जीवन की सार्थकता नहीं, जीवन की सार्थकता तो कुछ करते रहने में है। कार्य स्वतः कोई बुरा नहीं होता और न उसका करनेवाला छोटा होता है। उसी विचार से मैं स्थानीय विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन करने लगा। जिस कार्य को वेतन सहित करने से मैंने १० माह पूर्व इन्कार कर दिया था, उसी को अब अवैतनिक करने लगा था। ऐसी

अवस्था में मैं कुछ भी कर सकने में अपने को असमर्थ पाता था। परन्तु ज्योंही मैंने कार्य शुरू किया त्योंही मुझे अपनी शक्ति का बोध हुआ कि किस प्रकार लगातार ६ घण्टे कार्य कर सकता हूँ। इस प्रकार उस कार्य के सामने आते ही जिम्मेदारी का भी बोध हुआ। अब अच्छी तरह अपना कार्य कर रहा हूँ। अब मुझे कोई कार्य कठिन प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार धीरे-धीरे मेरे स्वास्थ्य में भी काफी सुधार हुआ तथा जो बाध्य विचार मन में आते थे, वे भी समाप्त हो गये। अब तो मेरा समय पठन-पाठन में ही व्यतीत हो जाता है। मैं इस समय भी कभी-कभी बनारस आकर अपने शिक्षक महोदय से मानसिक-चिकित्सा सम्बन्धी बातों पर विचार-विमर्श किया करता हूँ। मानसिक रोगियों के अनेक प्रकार की बातों को जानकर मुझे विश्वास होता है कि मेरा रोग मेरे कल्याण के लिये ही आया था। यदि यह रोग मुझे न हुआ होता, तो मैं मन की अनेक प्रकार की गुत्थियों के बारे में कुछ भी न जान पाता।

कुछ नए प्रयोग

गत मास भी मनोविज्ञानशाला में अनेक प्रकार की व्याधियों से पीड़ित मानसिक रोगी आये। इनमें से तीन बालक थे, जिन्हें स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाने की कल्पना दुखी बनाए हुए थी। इस प्रकार की कल्पना उनके अभिभावकों के विचारों के कारण उत्पन्न हुई थी। इनके अभिभावक धन-सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। वे इन बच्चों को अधिक-से-अधिक जल्दी विद्वान बनाना चाहते हैं, और जब वे उनकी आशाओं को पूरी नहीं करते तो उन्हें निराशा हो जाती है। यह निराशा का भाव फिर बच्चों के मन में चला जाता है। अतएव इन बालकों के मानसोपचार में जितनी चिकित्सा हमें बच्चों की करनी पड़ी उनसे अधिक कहीं उनके अभिभावकों की करनी पड़ी। हमें अभिभावकों का अपने बच्चों की योग्यता के प्रति दृष्टिकोण बदलना पड़ा और फिर बच्चों का खोया हुआ आत्मविश्वास हमें वापस लाना पड़ा।

जिस प्रकार के वातावरण में बालक रहता है, उसी प्रकार के उसके विचार हो जाते हैं। यदि किसी बालक के विषय में कहा जाय कि वह कुन्द बुद्धि का है, तो वह इसी गुण को चरितार्थ करने लगेगा। यदि कहा जाय कि उसकी स्मरण-शक्ति कमजोर है, तब उसकी स्मरण-शक्ति उसी प्रकार हो भी जाती है। इस पुराने संस्कार को बालक के मन से हटाने के लिये उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार काम दिया गया। इस काम को उन्होंने बड़ी लगन से पूरा किया। उनसे फिर शान्तिभावना और आनापानसति का अभ्यास भी कराया गया। इस प्रकार के अभ्यास से प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाशक्ति बली होती है और आस-पास के वातावरण से आये हुए दुर्निर्देशों के संस्कार समाप्त होते हैं। बालकों में उचित मानसिक परिवर्तन करने के लिये कई दिनों तक हमें उनसे रचनात्मक कार्य कराना पड़ता है। एकान्त में बातचीत करनी पड़ती है, और अभ्यास भी कराना पड़ता है। किसी व्यक्ति का एकाएक मानसिक परिवर्तन नहीं होता। हमें उक्त तीन बालकों के मानसोपचार में आशातीत सफलता मिली।

इसी बीच एक पन्द्रहवर्षीय बालिका, जिसे हिस्टीरिया का रोग हो गया है, हमारे पास लाई गई। यह बालिका कई मानसोपचार गृहों में जा चुकी है और उसे रोग से मुक्त करने के लिये बिजली के झटके लगाये जा चुके हैं। इसमें अपने विषय में बातचीत करने की कोई क्षमता नहीं है। यह बीच-बीच में अकारण ही हँसती रहती है। इसके प्राथमिक उपचार के लिये हमने उसके पेट पर गीली पट्टी बाँधकर सवेरे आधा घंटा तक लेटाए रखने को सलाह दी।

इससे रोगी की बहुत-सी अकारण चिन्ताएँ सहज में समाप्त हो जाती हैं। इस लड़की को मानसोपचार करते समय की स्थिति का एक चित्र दिया गया। उससे उस पुस्तक को कभी-कभी पढ़ने के लिये कहा गया। हम जानते थे कि वह पुस्तक नहीं पढ़ेगी, इसलिये उससे कह दिया गया कि उसे तकिये के नीचे रख कर सोया करे। इसके अतिरिक्त उससे मनमानी चित्र बनाने के लिये आदेश दिया।

जब यह लड़की एक सप्ताह बाद हमारे सामने फिर से लाई गई, तो उसकी मुखाकृति दूसरे ही प्रकार की थी। अब उसका अकारण हँसना बहुत कुछ जाता रहा। वह कुछ सार्थक बात-चीत भी करने लगी। उसने एक ड्राइङ्ग कापी पर बनाए हुए अनेक चित्र दिखाये और उसे दी गई पुस्तक हमें यह कहकर वापस की कि वह उसे पढ़ती थी। उसके अभिभावक से हमें ज्ञात हुआ कि उसके स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ है। इस लड़की को आनापानसति का अभ्यास कराया गया। वह कुछ देर तक आराम से पड़ी रही। इससे हमें विश्वास हुआ कि उसकी मनोस्थिति में सुधार हो सकता है। उसका अभी तक जो कुछ उपचार हुआ है निर्देश चिकित्सा-विधि से ही हुआ है। परन्तु इस प्रारम्भिक उपचार से ही रोगी में मानसिक जो परिवर्तन हुआ है, उससे हमें आशा है कि वह शीघ्र ही रोग मुक्त हो जायगी।

पिछले महीने में एक ऐसा नवयुवक भी हमारे यहाँ आया, जिसे अपनी स्मरण-शक्ति पर से विश्वास जाता रहा था। उसकी आकांक्षाएँ बड़ी-बड़ी हैं, और वह अपने में योग्यता की उतनी ही कमी पा रहा है। अपने अभिभावकों की भर्त्सना बार-बार सुनने के कारण उसमें आत्महत्या करने के विचार आने लगे थे। इस रोगी की सम्पूर्ण जीवन-गाथा सुनी गई। उसने इसे लगभग ५० फुलिस्केपों में लिखा था। फिर उससे अपने स्वप्न लिखने को कहा गया। उसने लगभग १०० स्वप्न लिखे। उसे आनापानसति का अभ्यास भी कराया गया। जब वह अपनी आत्मकथा कहते समय एक ऐसी घटना का वर्णन कर रहा था जो उसके लिये बड़ी ही लज्जास्पद थी, तब उसकी बोली बन्द हो गई और उसका हृदय तेजी से धड़कने लगा। इस प्रकार की आत्मस्वीकृति के परिणाम-स्वरूप उसकी स्मरणशक्ति और आत्मविश्वास में असाधारण वृद्धि हुई और उसकी चित्त की एकाग्रता और कार्यक्षमता बहुत बढ़ गये। अब उसके मन में विदेश जाकर इञ्जिनियरिंग में दक्षता प्राप्त करने का संकल्प उठने लगा। यह युवक सम्पन्न घर का बालक है और हमें विश्वास है कि वह शीघ्र ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होगा। इस युवक के द्वारा गरीब बालकों की ओर

रोगियों की पर्याप्त सेवा कराई गई; जिसमें परिणामस्वरूप उसके स्वभाव में विनम्रता आ गई है और वह अपने सम्बन्धियों का प्रिय बन गया है।

एक दूसरे नवयुवक को यह धारणा सताया करती थी कि उसके हाथ में लकवा हो जायगा। उसे कभी-कभी अपने दोनों हाथ हलके मालूम पड़ते थे। इस रोग का प्रारम्भ एक विलक्षण घटना से हुआ। जिस दिन उसकी परीक्षा का फल निकला उस दिन उसे बड़ी निराशा का अनुभव करना पड़ा। वह ऊँचे स्थान की आशा करता था परन्तु तृतीय श्रेणी में उसे स्थान मिला। इसी बीच उसे नौकरी पाने में भी निराशा मिली। जब वह निराशा के विचार लिये हुए रात में सो रहा था तो उसे मालूम हुआ कि उसका एक पैर कटकर अलग पड़ा हुआ है। वह घबड़ाकर ज्योंही उठा कि उसे मालूम हुआ कि उसके दाहिने हाथ में लकवा हो गया है। जब घर की ओर वह चला तो वह दाहिने हाथ के बदले बाएँ हाथ को पकड़े हुए अपनी माँ तक पहुँचा और माँ से घबड़ाकर यह कहने लगा कि हमें इस हाथ अर्थात् बाएँ हाथ में लकवा हो गया है। तुरत ही बहुत से वैद्य-डाक्टर बुलाये गये। उन्होंने लकवा का कोई निशान नहीं देखा। फिर गाँव के ओझा को बुलाया गया। इस ओझा ने बतलाया कि भगवती का प्रकोप है और यह १२ बजे तक ठीक हो जायगा। ठीक १२ बजे रात को हाथ का लकवा अच्छा हो गया। तब से कभी-कभी उसे संदेह हो जाया करता है कि उसे हाथ में लकवा हो गया।

इस रोगी की सम्पूर्ण जीवनी सुनी गई और उसकी घर की परिस्थिति को जाना गया। इससे हमें ज्ञात हुआ कि रोगी को पिता का स्नेह नहीं मिला। उसके पिता सदा घर से दूर रहा करते हैं। उसका सम्पूर्ण लालन-पालन उसकी माँ ने ही किया; अतएव वह पूरा मातृ-भक्त बन गया। जब उसका विवाह हुआ तब एक भारी भावात्मक संघर्ष की अवस्था उत्पन्न हो गई। उसकी माँ को भय हुआ कि कहीं वह स्त्री-भक्त न बन जाय। अतएव जैसे ही उसकी पत्नी घर आई कि उसे अकारण बेचैनी और तेज कमर की पीड़ा होने लगी। इधर स्त्री का भी स्वास्थ्य बिगड़ गया। इन सब बातों का युवक के मन पर बड़ा ही मार्मिक प्रभाव पड़ा। परन्तु इस प्रभाव ने तब तक कोई उग्ररूप धारण नहीं किया, जब तक कि एक बाहरी संकट ने उसे जीवन से हताश नहीं बनाया। जब परीक्षा में उसे आशानुसार सफलता नहीं मिली, तब उसकी दबी भावना लकवा के रोग के रूप में व्यक्त हुई।

इस रोगी के उपचारार्थ उससे आनापानसति का अभ्यास कराया गया। इसके प्रथम बार आते ही उसकी मनोदशा में आश्चर्य जनक परिवर्तन हुआ।

फिर उससे जीवन की मार्मिक घटना सहानुभूति पूर्वक सुनी गई। अब यह रोगी एक कालेज में लेक्चरर हो चुका था। उसे सलाह दी गई कि वह बालकों को पढ़ाने का काम पूरे मनोयोग से करे। शिक्षा का कार्य स्वयं ही अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की औषधि है। उसने अपनी पत्नी को उसके मायके छोड़ रखा था। उसे सलाह दी गई कि वह उसे अपने पास ही रक्खे। वह अपनी माँ की सेवाओं पर पत्नी की उपेक्षा न करे। उसके अनेक स्वप्न सुने गये। इसके परिणामस्वरूप वह चिकित्सक में बेहद श्रद्धा करने लगा। उसकी पत्नी के आने पर उसका एक महीने में २० पौण्ड वजन बढ़ गया। इस बीच वह हमारे पास तीन चार बार आया और उसकी परिवर्तित अवस्था को देखकर हमें अपने कार्य से बहुत संतोष हुआ।

———

हकलाहट

यह युवक जब तृतीय वर्ष का विद्यार्थी था, तब मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार के लिए आया। इसे हकलाहट का रोग था। उसने बताया कि हकलाहट के कारण अध्यापकों के प्रश्नों का उत्तर देना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। साथियों के गिरोह में बातचीत करने से वह झिझकता था। उसे अपने को सर्वथा नवागन्तुकों से दूर रखना पड़ता था। उसे भय था कहीं उनके प्रश्नों का उत्तर न देना पड़े। जब वह हकलाकर कक्षा में बोलता था तो सभी छात्र उसको अपनी हँसी का माध्यम बनाकर ठहाका मार कर हँसने लगते थे। इससे उसे मार्मिक पीड़ा होती थी। उसका जीवन भार हो गया था और वह कभी-कभी आत्महत्या करके मर जाने की भी सोचता था।

मनोविज्ञानशाला में आने के पूर्व उसने अपने रोग की काफी दवाइयाँ की थीं। वह एक प्रसिद्ध तांत्रिक लकड़िया बाबा के यहाँ भी गया था। कई तरह की डाक्टरी दवा भी कराई, पर कोई लाभ न हुआ। उसने बताया कि उसे यह रोग तेरह वर्ष की अवस्था से हो गया था। मनोविज्ञानशाला में आने पर पहले तो कुछ जलपान मिठाई आदि खिलाकर उसका स्वागत किया गया। यह भी शाला की मानसोपचार विधि का अंग है। प्रत्येक रोगी को जब भी और जितनी बार यहाँ आता है, जलपान आदि कराया जाता है। ऐसा कराना स्नेह और आत्मीयता बढ़ाने का माध्यम है। रोगी से उसकी जीवन-गाथा सुनी गई। उसने अपने परिवार की गरीबी का किस्सा सुनाया। उसकी जीवनी सुनने से पता चला कि बचपन में उसे पिता की ओर से बहुत कठोरता मिली थी। अतः उसके मन में पिता के प्रति भय पैदा हो गया था। इसके मन में पितृद्वेष की भावना-ग्रन्थि (Oedipus complex) बन गई थी। बचपन में उसके पिता उसे पीटा करते थे। उसे कार्यों में प्रोत्साहित करने के बदले हरदम खरी-खोटी सुनाया करते थे।

आनापानसति

इस रोगी से मनोविज्ञानशाला में आनापान सति का अभ्यास कराया गया। उसे एक बिछावन पर लिटा दिया गया और उसके शरीर पर हाथ फेरा गया। इसके बाद वह सो गया। सोते समय उसने बड़ा भयानक स्वप्न देखा। आनापानसति की अवस्था में उसके पिता के प्रति दमित भय थोड़ा बाहर आया। उससे हरदम आनापानसति का अभ्यास करते रहने को कहा गया। यह अपने घर पर रोज ही इसका अभ्यास करता था। कभी-कभी. मनोविज्ञानशाला में भी उससे यह अभ्यास कराया जाता था। यह अभ्यास करने से उसके अचेतन

मन में पिता के प्रति जो दमित भय था वह बाहर आ गया। आनापानसति के समय उसे चिकित्सक-द्वारा सन्निर्देश दिया जाता रहा और बाद में उससे स्वयं भी आत्म-निर्देश का अभ्यास कराया गया।

मैत्रीभावना

इस रोगी से मैत्री भावना का भी अभ्यास कराया गया। उससे यह बताया गया कि वह जिससे बात न करे उसके विषय में सोचे कि वह बब्बा (वह चिकित्सक को बब्बा कहा करता था) से बातचीत कर रहा है। उसे यह भी बताया कि वह कल्पना में सोचा करे कि सब लोग उसकी बातें सुनकर उसकी प्रशंसा कर रहे हैं और उसकी बातों का आदर कर रहे हैं। पिता के प्रति भी मैत्रीभावना का अभ्यास कराया गया। इन अभ्यासों का फल यह हुआ कि वह किसी से बात करते समय अब डरता नहीं था। फिर उसका हकलाना गायब हो गया।

इस रोगी को जो लाभ हुआ वह चमत्कारित था। उसका रोग तीन महीने के भीतर ही अच्छा हो गया। इससे स्वयं चिकित्सक को भी अचरज हुआ। उसके रोग का प्रधान कारण पिता का भय था। विमाता भी उसे त्रास दिया करती थी। प्रत्येक हकलाने वाले रोगी के अचेतन मन में पिता के प्रति भय का भाव दमित रहता है। आनापानसति के अभ्यास से इस रोगी के मन में स्थित पिता के प्रति भय का भाव बाहर चला आया और फिर आत्मनिर्देश तथा मैत्रीभावना के अभ्यास से वह भय सदा के लिए चला गया। दमित भय के रेचन हो जाने पर उसका रोग भी समाप्त हो गया। इसके रोग के अच्छा होने में चिकित्सक के स्नेह का भी पर्याप्त हाथ था। चिकित्सक हिन्दू होते हुए भी रोगी को बैठाकर अपनी थाली में खिलाता, और सब भेद-भाव छोड़कर उसे अपने लड़के जैसा मानता। वह चिकित्सक को पितातुल्य प्रेम करता था और अब भी करता है। उसे मनोविज्ञानशाला से कुछ आर्थिक सहायता भी दी गई। उसे फीस आदि के लिये पैसे यहाँ से दिये गये। इससे भी उसे लाभ हुआ। यह रोगी मनोविज्ञानशाला में होने वाली हर रविवार की सभा में आया करता था और यहाँ होनेवाले भाषणों को ध्यानपूर्वक सुना करता था। इससे भी उसे काफी लाभ हुआ।

वर्त्तमानस्थिति

आज यह एम० ए० का सफल विद्यार्थी है। यह एन० सी० सी० (N. C. C.) का एक प्रतिभाशील कैडेट है। सारे प्रांत भर में यह सभी कैडेटों में सर्वप्रथम आया है। अब उसे वाणी सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं है। वह बिलकुल साफ बोल लेता है। जहाँ वह पहले अपना नाम उच्चारण नहीं कर सकता

था, वहाँ आज वह मनोविज्ञानशाला के स्टेज से स्पष्ट भाषण करता है। अपनी चिकित्सा प्राप्ति के सम्बन्ध में उसका बयान मनोविज्ञानशाला द्वारा प्रकाशित 'मनोवैज्ञानिक संजीवनी' में निकला है, जिसका यहाँ उल्लेख किया जाता है।--

'आज से चार पाँच महीने पहिले इसी मनोविज्ञानशाला में आने के पूर्व मैं पुरानी स्टाइल का फोर्ड मोटर था, और आज न्यू माडल का हूँ। फोर्ड और न्यू माडल मैंने इसलिए कहा कि इस मोटर को स्टार्ट करते समय कुछ देर तक खड़खड़ाना पड़ता था अर्थात् जिस प्रकार मोटर स्टार्ट करने के लिए दो मिनट स्टार्ट लेना पड़ता है, उसी तरह मैं भी किसी से बात करने के पहले या कोइ शब्द कहने के पहले कई बार ब, ब, ब, ब कह लिया करता था। मैं अपनी एक तमन्ना आपको सुनाऊँ तो आपकी समझ में बात अच्छी तरह आ जायगी। जब मैंने मिडिल स्कूल का इम्तहान दिया, तो इम्तहान का नतीजा जानने के लिए मैं इलाहाबाद बड़ी मुश्किल से पहुँचा। फिर पूछते-पूछते इण्डियन प्रेस पहुँचा। वहाँ बोलने के पहले स्टार्ट लिया और यही कहकर बन्द हो जाता कि 'मैंने दिया'। और कुछ मैं नहीं कह सकता था। यहाँ बड़ी मुश्किल से लिख कर काम चलाया। आते वक्त मुझे अपने आप पर बहुत गुस्सा आया। मैं यह चाहता था कि गंगा में कूद जाऊँ। फिर सोचा कि यह दुनिया एक फिल्म है। तरह-तरह के इन्सान यहाँ हैं। ईश्वर की यही मर्जी है कि मैं यही दुःख भोगता रहूँ। इस तरह के कई किस्से हैं। जहाँ-जहाँ जाता वहाँ छोटे भाई के साथ जाता था। पिता जी से भी बोलने में मेरी यही दशा थी।

मैं मिडल स्कूल में पढ़ता था। इङ्गलिश और ज्योमेट्री में बड़ा गदाई था। इस रोग ने मेरी बड़ी सहायता की। मास्टर साहब मुझको तख्तस्याह पर ज्योमेट्री समझाने के लिए भेजते थे। मुझसे क्लास में कोई सवाल नहीं पूछा जाता था। वहाँ मैंने जानबूझकर हकलाना शुरू किया। किसी तरह मिडल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। घर पर पिताजी से भी मैं बोलने में हकलाता था। वे मुझसे कोई सवाल नहीं करते थे। पहले तो बचाव के लिए यह रास्ता मुझे बहुत अच्छा लगा, पर बाद में ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, मुझे इस रोग से परेशानी बढ़ने लगी। बहुत इलाज मैंने किया। मैं लकड़िया बाबा के यहाँ भी गया था। कई तरह की दवाइयों की शीशियाँ खाली कर दीं और यहाँ तक एक साहब ने बताया तलवे में घाँटी छोटी है, जवान मोती है। मैंने बहुत दवा भी खाई और तलवे की ललरी एकदम काटना चाहा। लेकिन एक दिन मेरे दोस्त केशवप्रसाद ने शुक्ल जी का नाम बताया और मैं भी अखबार में मनोविज्ञान शाला का लेख बहुत पहले पढ़ चुका था। मुझे यह नहीं मालूम था

कि यह रोग यहीं अच्छा हो सकता है। जब मुझे औरंगाबाद पता बताया गया, तो मैंने समझा कि लकड़िया बाबा का ही नाम शुक्ल जी है। लेकिन किसी तरह ढूँढ़ता हुआ मनोविज्ञानशाला आया। अंदर आने की हिम्मत न पड़ी। वापस लौट पड़ा क्योंकि मैं तो शुक्ल जी को खूब रोबदार, मोटा-तगड़ा, जंटिलमैन डाक्टर समझता था। किसी प्रकार साहस करके मैं एक पत्र अन्दर भेज पाया। उत्तर में वे मुझे खुद ही मिलने चले आये। पहले तो मैंने समझा कि मनोविज्ञानशाला का कोई कम्पाउण्डर है और शुक्ल जी को न पाकर बहुत हैरान हुआ। ऊपर से कंपाउण्डर साहब ने तंग करना शुरू किया कि तुम्हारा नाम क्या है? कहाँ से आये हो? स्टार्ट लेनेके लिये तो मुझे मौका मिला ही नहीं और इसी लिये कथा पत्र में लिखकर उन्हें भेजवा दी। आखिरकार उन्होंने मुझे दूसरे दिन शाम को आने को कहा। दूसरे दिन भी मैंने शुक्लजी को न पाया और लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही शुक्लजी थे। तब तो मेरे ताज्जुब का ठिकाना न रहा। हाँ, एक बात और थी कि मीटिंग शुरू होने के पहले एक मिस्टर ने मुझसे नाम पूछा। मैं अन्दर स्टार्ट ले ही रहा था कि वे समझे कि मुझे नाम बताने में कोई इतराज है। झट से शुक्लजी से पूछ बैठे कि नाम न बताने का क्या मनोवैज्ञानिक कारण है। शुक्लजीने कहा कि जिस चीज से मन ज्यादा प्रेम करता है, उसका नाम जल्दी नहीं लेता; इस प्रकार नाम भी तो प्यारा होता है। मैं आँसू के घूँट पीकर रह गया कि काश मुझे अपने नाम से इतना प्यार न होता तो और लोगों की तरह झट से अपना नाम बतला दिया करता।

दूसरे दिन सात बजे रात को बुलाया गया और तख्ते पर सोने को कहा गया। मुझे ऐसी नींद आ गई कि मैं स्वप्न देखने लगा कि मैं आसमान में उड़ता जा रहा हूँ और पानी की बूँदें धीरे-धीरे गिर रही हैं। इस दौरान में शुक्लजी मेरे ऊपर हाथ फेरते रहे। वह गुदगुदी मुझे ऐसी अच्छी लगी कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। इसके बाद उन्होंने मुझे जगाया। मैं नहीं कह सकता कि यह कौनसी विधि थी, यह आत्मनिर्देश विधि थी या मनोविश्लेषण विधि या शैथिलीकरण विधि या मानसोपचार विधि थी। मैं नहीं कह सकता कि सुलाकर मुझे आनापानसति कराया गया या क्या कराया गया। उन्होंने मेरी तकलीफों को बहुत ध्यान से सुना और यह बतलाया कि तुम्हारे अन्दर सभी प्रकार की शक्तियाँ मौजूद हैं, तुम दुनिया में बहुत बड़े-बड़े काम कर सकते हो। फिर मेरे अन्दर एक नई ताकत आ गई। मैं अपने को अब हकला नहीं समझता और बड़े-बड़े लोगों से बातचीत करने में मुझे जरा भी यह अनुभव नहीं होता कि मैं किसी समय हकला था या अभी भी कुछ हकला हूँ।

दिल की धड़कन और अनिद्रा

आज से एक वर्ष पूर्व यह रोगी हमारे पास आया। इस रोगी को दिल की धड़कन, अनिद्रा, हाथ-पाँव की शून्यता, स्मरण-शक्ति का ह्रास, मृत्यु का भय, संसार अंधकारमय दीखना आदि कई रोग थे। यह साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति है। इसकी उम्र २४ वर्ष की है। यह एक दुकानदार सेठ के यहाँ नौकरी करता है। इसके पिता नहीं हैं, माँ है। तीन भाई, तीन बहन, स्त्री और एक बच्चा है।

मनोविज्ञानशाला में आकर उसने अपने रोग का विवरण निम्न प्रकार से सुनाया—'आज से छ महीना पहले मैं बंगाल की नौकरी पर जा रहा था। उसी समय मुझे अकस्मात सिर में चक्कर आया और कै भी हुई। इसके २-३ दिन बाद सीने में दर्द होने लगा। उस दर्द का इलाज कराया, पर इससे वह नहीं मिटा। मैं अपने मामा के लड़के की शादी में गया लेकिन मुझे रात-दिन दर्द की चिंता बनी थी। वहाँ एक डाक्टर से दिखाया गया जिसने बताया कि सर्दी है, पर दर्द गया नहीं। फिर शहर जाकर एक्सरे कराया पर इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। फिर मैं गाँव लौट आया। वहाँ एक देशी वैद्य से दवा कराई।

इसके बाद एक दिन मुझे एक लड़के ने कह दिया कि मैं तुम्हें दश पाँच रोज में स्वस्थ कर दूँगा। इसके बाद मुझे एक उल्टी हुई। मैंने वैद्य से दवा ली। वह व्यक्ति फिर मिल गया और कहने लगा कि अब तुम बचनेवाले नहीं हो। ऐसे वह १५-२० मिनट तक कहता रहा। मैं कुछ नहीं बोला। वहाँ मेरे पैरों में कुछ सुन्न-सी आई। फिर मैं घर आया, तो हाथ-पैर सुन्न हो गए। मैं घबरा गया। वैद्य को बुलाया गया। इञ्जेक्सन और दवा की पुड़िया दी, पर उससे कुछ लाभ न हुआ। फिर एक और अच्छे वैद्य को बुलाया गया और उसने कहा कि वास्तव में कोई रोग नहीं है, दिल का वहम है। उन्होंने दवा दी पर कोई लाभ न हुआ। फिर मैंने एक दूसरी जगह जाकर एक महीने तक दवा कराई। उससे भी कुछ लाभ न हुआ। फिर मेरे शरीर में धड़कन पैदा हो गई और किसी पागल को देखकर यह विचार उठने लगा कि मैं भी पागल हो जाऊँगा।

एक दिन मेरे मास्टर ने मुझे मनोविज्ञान पत्रिका पढ़ने को दी। उसमें मेरे जैसे अनेक रोगियों के अच्छा होने का विवरण था। मैंने सोचा मनोविज्ञान-शाला में जाकर मैं भी अच्छा हो सकता हूँ। फिर मैं मनोविज्ञानशाला (बनारस) चला आया।

उपचार—इस रोगी से पहले बड़े प्रेम से मिला गया और उसका स्वागत किया गया। रोगी को स्नेह दिखाना तथा उसका स्वागत करना उससे आत्मीयता बढ़ाने का उपाय है।

जीवनी सुनाना—फिर इस रोगी से अपनी जीवनी सुनाने को कहा गया। जीवनी सुनाते समय इसने अपने जीवन की अनेक ग्लानिजन्य घटनाओं की स्वीकृति की। उसने बताया, 'मैं बंगाल में एक सेठ के यहाँ नौकरी करता था। वह सेठ अच्छा नहीं था। वह मुझसे बचपन में एक बार समलिंगी व्यभिचार भी कर चुका था। इस समय वह मुझसे हस्तमैथुन कराने लगा। मेरा भी लिङ्ग पकड़कर वह हस्तमैथुन कर देता था। ऐसा करने से मुझे आत्मग्लानि होती थी। पर मना करने पर वह नाराज हो जाता था। वह कभी-कभी मुझे अपनी स्त्री के पास भी ले जाता था और एक दो-बार अपनी भौजाई के पास भी जाने को कहा और मैं दो बार गया भी। लेकिन उससे इतनी आत्मग्लानि नहीं हुई जितनी उसकी स्त्री के पास जाने से। एक दो-बार उसने अपनी लड़की के पास भी जाने को कहा। मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया। पर वहाँ जाने का मौका ही न मिला। इसी तरह हमारे गाँव में एक-दो लड़कियों से कामोत्तेजना हुई थी पर सफलता न मिली। अपनी चचेरी भौजाई के प्रति भी कामोत्तेजना हुई पर यहाँ भी सफलता न मिली। ऐसा करते कई दिन बीत गए। जब अबकी बार मैं ४ महीने घर रहकर फिर बंगाल नौकरी पर जाने लगा, तो यह सब रोग हो गया। मेरे गाँव का एक व्यक्ति बंगालवाली सभी कामसम्बन्धी बातों को जानता था। मुझे भय हुआ कि वह सबसे कह देगा जिससे मैं और भी घबड़ा गया और मेरा रोग बढ़ गया।

रोग का कारण—जीवनी सुनने से यह स्पष्ट हो गया कि इस व्यक्ति का रोग अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल कामाचरण करने से ही पैदा हुआ था। जब वह बंगाल में सेठ के साथ हस्तमैथुन करता था तथा उसके परिवार की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करता था, तो उसकी नैतिक बुद्धि उसको कोसती थी। यह आत्मग्लानि और भी ज्यादा इसलिए होती थी कि उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल सेठ के भय के कारण व्यभिचार वृत्ति में लगना पड़ता था। इसी कारण उसे रोग ठीक उसी समय शुरू हुआ, जब उसे फिर बंगाल जाने की तैयारी करनी पड़ी।

आनापानसति—रोगी को आनापानसति का अभ्यास कराया गया। चिकित्सक उस पर हाथ फेरते रहे और वह सो गया। दूसरे दिन रोगी को रोज-रोज शान्तिभावना का अभ्यास करने को कहा गया। उसने बताया कि मनोविज्ञानशाला आने के पहले भी यहाँ से निकलनेवाली पत्रिका 'मनोविज्ञान' को

पढ़कर उसने शांतभावना का अभ्यास किया और उसे कुछ लाभ भी हुआ था। यहाँ पर शांत-भावना का अभ्यास करने से उसे ठीक से नींद आ जाती थी।

पुस्तकें पढ़ना—उसे मनोविज्ञान-सम्बन्धी कुछ पुस्तकें पढ़ने को दी गईं। उसे पत्रिका भी पढ़ने को दी गई। इन पुस्तकों और पत्रिकाओं के पढ़ने से उसे लाभ हुआ।

मैत्री-भावना—इस रोगी से अपने रोग के प्रति मैत्री-भावना कराई गई। उसे यह धीरज दिया गया कि उसने जो व्यभिचार आदि किया है वह कोई बहुत अस्वाभाविक नहीं, युवकों के साथ तो ऐसा हुआ ही करता है। उसी के प्रायश्चित स्वरूप तो यह रोग आया है और इस रोग से पुराने कृत्यों का प्रायश्चित हो गया। अतएव उसका रोग उसके भले के लिए था।

स्नेहपूर्ण वातावरण—इस रोगी को चिकित्सक ने अपने घर में ही रक्खा तथा उसके साथ अपने परिवार के व्यक्तियों जैसा व्यवहार किया। रोगी ने यहाँ आकर आत्मीयता का अनुभव किया। इससे उसके रोग के जाने में सहायता मिली।

रचनात्मक कार्य—रोगी को रचनात्मक कार्यों में लगाया गया। उसे मनोविज्ञानशाला में कुछ श्रम करने को दिए गए। वह यहाँ बच्चों को पढ़ाता था। यहाँ रहनेवाले पाँच-छ व्यक्तियों के लिए रोटी भी बनाता था।

रोगी से कहा गया कि वह सेठ के यहाँ काम छोड़ दे, अन्यथा उसे फिर रोग हो जायगा। उसने भी सेठ का काम छोड़कर कहीं दूसरी जगह काम करने का निश्चय किया। अपने कामकृत्यों की स्वीकृति करने, स्नेह, सहानुभूति और बढ़ावा का वातावरण पाने, रचनात्मक कार्यों में लगने, मैत्रीभावना का अभ्यास करने तथा पुस्तकों के पढ़ने आदि से उसका मन सबल हो उठा।

स्वप्न अध्ययन—रोगी के स्वप्नों का भी अध्ययन किया गया। उसने स्वप्न देखा, 'मैं पंडितजी (चिकित्सक) के साथ बाहर पाखाना होने के लिए जा रहा था। रास्ते में एक ऊँट मिला। मैंने कहा ऊँट मुझे खा जायगा? पंडित जी ने कहा उसकी आँखों में रोशनी करने से वह नहीं काटेगा। फिर उन्होंने एक टार्च लेकर ऊँट की आँखों में रोशनी की और निपटने चले गए। मैं वहाँ खड़ा रहा। फिर ऊँट मेरी ओर ढेला फेंकने लगा। मैं वहाँ से भागा। पीछे से जोर ईंटा फेंकने लगा पर मुझे लगा नहीं। मैं एक कमरे में आकर कपड़ों में छिप गया। फिर बाद में दो आदमी आते हैं, जिनका वह ऊँट था। ये आदमी वे थे, जिन्होंने मुझे कहा था कि तुम मर जाओगे।'

रोगी को इस स्वप्न का अर्थ बताया गया कि ऊँट कामवासना का प्रतीक

है। चिकित्सक ने उसकी आँखों में प्रकाश कर कामवासना को प्रकाश में ला दिया है और उसके प्रति रोगी का भय समाप्त हो रहा है। ढेला फेंकना और न लगना यह सूचित कर रहा है कि वह अच्छा हो रहा है। रोगी ने भी इस अर्थ को स्वीकार कर लिया।

दूसरा स्वप्न उसने यों सुनाया 'मैं अपने भाई के साथ लेकर सेठ को रुपया देने गया हूँ। उससे कहा कि मैं रुपए देने आया हूँ, मेरी तबीयत ठीक नहीं, वापस जाऊँगा। इतने में कोई कहता है कि तुम्हें धनुषटंकार रोग हो गया है, यह बहुत खतरनाक रोग है। तुम झाड़-फूँक करा लो। मैं कहता हूँ कि मुझे भूत नहीं लगा है। इतने में दुकान पर आता हूँ तो वहाँ मेरे शरीर पर फोड़े ही फोड़े दिखाई पड़ते हैं, केवल मुँह बचा है और मैं कहने लगा कि मरा-मरा। फिर एक वैद्य ने मलहम लगाया और रजाई ओढ़ाकर फूँक दिया तो मेरे सारे फोड़े अच्छे हो गये। फिर मैंने भाई से चलने को कहा। फिर देखता हूँ कि मैं एक मन्दिर में एक बुड्ढे केसाथ पूजन कर रहा हूँ और मैं बिलकुल ठीक हो गया हूँ।

बिगड़े बालक का सुधार कैसे किया जाय ?

आज से कुछ दिन पूर्व हमारे एक मित्र बड़ी परेशानी की अवस्था में हमारे पास आये। उनकी परेशानी का कारण उनको बड़े लड़के का व्यवहार था। यह लड़का स्थानीय स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ता था। वह इस समय अपनी पढ़ाई से बिलकुल उदासीन हो गया था। वह बुरे लड़कों की संगत करने लग गया था। उनके साथ वह घूमता-फिरता और सिनेमा को जाता था। वह सिगरेट भी पीता था। इसके लिये वह पैसा पिता-माता से नहीं पाता था। अतएव किसी-न-किसी प्रकार घर से चोरी कर लेता था। इसके लिये उसके पिता ने उसे बहुत कुछ मारा-पीटा परन्तु उनमें सुधार नहीं हुआ। उसका आचरण और भी जटिल होता ही गया। पिता लड़के को हमारे पास लाये कि हम उसे सुधार दें। इसके कारण उसका ११ वर्षीय छोटा भाई भी बिगड़ रहा था।

आज से चार वर्ष पूर्व भी विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा का एक छात्र अपने तेरह वर्षीय भाई को पैर में बेड़ी डाले हुए लाया। उसके वृद्ध पिता भी उसके साथ थे। लड़के की अनेक प्रकार की बुरी आदतों की चर्चा की गई। उसमें बुरे लड़कों की संगत करना और सिनेमा देखने की आदत लगी हुई थी। पिता बड़े ही आदर्शवादी व्यक्ति हैं, अतएव इन बातों से उन्हें बड़ी परेशानी हुई। उन्होंने लड़के को बहुत-कुछ समझाया परन्तु इससे कोई लाभ न हुआ। फिर उसे खूब मारा-पीटा। इससे उसने घर से भागने की आदत डाल ली। वह बिना टिकट रेल पर चढ़ जाता और किसी दूर के शहर में किसी दूकानदार के यहाँ नौकरी करके अपनी आजीवका कमाता था। वह कभी-कभी अपने छोटे भाई को भी अपने साथ भगा ले जाता था। एक बार दोनों भाई बिना टिकट के बम्बई कलकत्ता मेल से चल दिये। बीच में इटारसी के पास बड़ा भाई कुछ खाना खरीदने के लिये उतरा और रेल छूट गई। छोटा भाई रेल में ही रह गया। अगली स्टेशन पर वह उतर गया। इधर बड़े भाई ने दूसरी गाड़ी आगे जाने को पकड़ी और अनायास छोटे भाई को स्टेशन पर पा लिया। इस प्रकार दोनों भाई मिल गये। परन्तु दोनों के छूट जाने की भी संभावना थी।

पिता को इन सब बातों को जानकर बड़ा ही दुःख होता था। वे बड़े लड़के को जितना ही पीटते उसकी घर से भागने की इच्छा उतनी ही बलवती होती जाती थी। वह घर से कई बार भाग चुका था। किसी ने सलाह दी

कि कुछ दिनों तक उस लड़के को बेड़ी डालकर रखा जाय, तो उसकी इस प्रकार की आदत चली जायगी। हमें बताया गया कि उसके एक मित्र की घर से भागने की आदत इसी प्रकार छूट गई है।

एक तीसरे मित्र भी अपने चौदह वर्ष के बालक की अनेक प्रकार कीं बुरी आदतों से परेशान हैं। वह सिगरेट पीता, सिनेमा जाता, बुरे लड़कों की संगत करता, चोरी करता और जिस काम से उसे रोका जाता उसी काम को छिपकर करता है। मित्र ने लिखा कि उसमें और भी अनेक बुरी आदतें आ गई हैं और उसका जीवन बड़ा दूषित हो गया है। संभवतः उसमें काम-कुटेवें भी लग गई हों। मित्र बड़े ही आदर्शवादी दृढ़व्रती व्यक्ति हैं और उन्होंने बालक को सुधारने की अनेक प्रकार का यत्न किया—बालक को समझाया - बुझाया, उसे मारा-पीटा, परन्तु उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। अतएव उन्होंने मनोवैज्ञानिक परामर्श हम से लिया। अतएव हमारा यह कर्तव्य होता है कि उक्त प्रकार के सभी बालकों के सुधार के लिये हम कुछ मनोवैज्ञानिक परामर्श समान्य जनता को दें। हम सभी को थोड़े न थोड़े रूप में ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अतएव इस विषय पर थोड़ा भी विचार करना लाभदायक होगा।

इस प्रकार के बालकों के मनोवैज्ञानिक उपचार के लिये यह आवश्यक है कि हम उन कारणों को जाने, जो बालक को विशेष प्रकार का दुराचारी बनाते हैं। किसी दुराचारी बालक को किसी शैतानी शक्ति के वशीभूत मानकर उसे मार-पीटकर ठीक करने की चेष्टा करना सर्वथा अ-मनोवैज्ञानिक है। इससे बालक की मानसिक जटिलता और भी बढ़ जाती है। वह अपराधी के बदले कभी-कभी मानसिक रोगी बन जाता है। बलात् भला बन गया बालक निकम्मा युवक बनता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को स्थायी सिर की पीड़ा, आँख का रोग, बहरापन, क्षय, हृदय का रोग अथवा पेट का रोग हो जाता है। इस प्रकार के कई रोगियों की चिकित्सा करने का अवसर हमें पड़ा है। कठोर वातावरण में रखे गये बालक मस्तिष्क के रोगी भी बन जाते हैं।

बालक के उद्दण्ड होने का प्रधान कारण बचपन का स्नेह-हीन वातावरण होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार उद्दण्डता तथा अपराध उसी प्रकार मानसिक रोग हैं, जिस प्रकार अकारण भय, चिन्ता, हिस्टीरिया, बाध्य-विचार आदि मानसिक रोग है। ये रोग कभी-कभी शारीरिक रोग का भीं रूप धारण कर लेते हैं। मानसिक रोग और अपराध की मनोवृत्ति एक दूसरे में परिवर्तित भी हो जाते हैं। हमारा एक रोगी पहले हृदय के रोग तथा अकारण भय और चिन्ता से पीड़ित था। वह एक समय अपने बिस्तर से भी उठ नहीं सकता था।

उसको भय हो गया था कि वह अब बिलकुल निकम्मा हो चुका है। इनका कारण उसके मन में अपनी काम-चेष्टा के प्रति पाप की दमित भावना थी। वह हस्तमैथुन करने का आदी बन गया था। पीछे उसे ज्ञात हुआ कि इस क्रिया को करनेवाला व्यक्ति अपनी सभी मानसिक और शारीरिक शक्तियों को खो देता है। इन बातों ने उसके मन में भारी भय के भाव उत्पन्न किये। ये भाव भी उसके अचेतन मन में घर कर गये। फिर अपनी भयानक कल्पनाओं के अनुसार उसकी शारीरिक क्रियायें भी होने लगी। पहले तो उसने अपनी स्मरण-शक्ति को खोया। वह पढ़ाई में फेल होने लगा, पीछे उसकी चित्त की एकाग्रता जाती रही। फिर उसका सभी प्रकार का आत्मविश्वास जाता रहा। वह शरीर से रोगी रहने लगा। जैसे-जैसे उसकी चिकित्सा होती गई तैसे-तैसे उसका रोग बढ़ता ही गया। एक समय वह बिस्तर पर से उठने योग्य ही न रह गया।

उक्त रोगी की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा जब की गई, तो वह शरीर से पूर्ण स्वस्थ हो गया, परन्तु अब उसके मन में अपने बड़े भाई और माता-पिता के प्रति प्रबल द्वेष-भावना जाग्रत हो गई। वास्तव में इस व्यक्ति ने अपने पिता से वैसा स्नेह नहीं पाया था, जैसा उसके दूसरे भाइयों ने पाया था और इसके कारण उसके मन में अपने सभी सम्बन्धियों के प्रति बचपन से ही द्वेषभाव दमित अवस्था में थे। इन्हीं के कारण उसे हस्तमैथुन की आदत लगी थी और इसके भय के कारण उसे शारीरिक रोग उत्पन्न हुआ था। जब शारीरिक रोग जाता रहा और उसके जीवन में निराशा की जगह आशा के भाव जाग्रत हुए, तो उसके साथ-साथ अपने सम्बन्धियों के प्रति द्वेष-भाव भी म्रियमाण हो गये। यह व्यक्ति अब वयस्क युवक हो चुका था। अतएव उसका आचरण सारे परिवार के लिये भारी समस्या बन गया।

अपराधी बालक अपने अनजाने ही अपने प्रति किये गये अत्याचार का बदला अपने माता-पिता, बड़े भाई, अन्य सम्बन्धियों तथा पूरे समाज से लेता है। वह इस तरह उन लोगों को परेशान किये रहता है! यह भी प्यार प्राप्ति का विकृत मार्ग है। अपराधी बालक अपने माता-पिता को दुःखी बनाता है। वे उसे भुला नहीं सकते। वह कुछ-न-कुछ समस्यायें उनके सामने उपस्थित किये ही रहता है। जब ऐसे बालक को दण्ड के द्वारा सुधारने की चेष्टा की जाती है, तो उसका मानसिक विचार और भी बढ़ जाता है। फिर दण्ड पाना ही बालक का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। विकृत मनोवृत्ति का बालक माता-पिता का दण्ड पाने के लिये ही अमल में कोई अनुचित बात करते रहता है।

अपराधी अथवा उदण्ड बालक के जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि स्नेह-हीनता के साथ-साथ उसकी प्रबल मूल-प्रवृत्तियों का कठोरता से दमन हुआ है। ऐसे बहुत से बालकों में आत्म-प्रकाशन को तथा काम-प्रवृत्ति का दमन पाया जाता है। जिस बालक की आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति दमित होती है, वह दूसरे बालकों के प्रति ईर्ष्या का भाव मन में रखता है। उसके मन में आत्म-हीनता की भावना रहती है। यह आत्म-हीनता की भावना बालक को ऐसे काम करने की प्रेरणा देती है, जिससे वह अपने को दूसरों से अधिक बली समझ सके। इसके कारण वह दूसरे बालकों को मारता-पीटता और उनकी वस्तुयें चुरा लेता है। विकृत काम-प्रवृत्ति के दमन के कारण भी बहुत से बालकों में उदण्डता की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण कितने ही बालकों को चोरी की आदत लग जाती है।

ऐसे बालकों के सुधार के लिये पहली आवश्यकता बालक को सच्चा स्नेह देना है। प्रत्येक सुधारक को चाहिये कि वह बालक के हृदय की बात को जानने की चेष्टा करे। उद्दण्ड बालक के मन में भी कहीं-न-कहीं भलाई बैठी रहती है। वह प्रेम का भूखा रहता है। वह एक प्रकार का मानसिक रोगी है और जिस प्रकार प्रत्येक मानसिक रोगी किसी ऐसे व्यक्ति की हार्दिक खोज में रहता है, जो उसके मन की बात को सुने उसी प्रकार प्रत्येक उद्दण्ड बालक भी सहानुभूति से सुननेवाले व्यक्ति की खोज में रहता है। अपराधी बालक के मन में यह विश्वास ही नहीं होता कि कोई भी व्यक्ति उससे सहानुभूति दिखा सकता है। यदि ऐसा व्यक्ति उसे मिल जाय, तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जावे।

प्रत्येक अपराधी व्यक्ति में उसी प्रकार आत्म-विश्वास का अभाव रहता है, जिस प्रकार मानसिक रोगी में आत्म-विश्वास का अभाव रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको भला सिद्ध करने की चेष्टा करता है। सभी व्यक्तियों में भले बनने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही हम बुरे से बुरे व्यक्ति का सुधार कर सकते हैं। अतएव जितना ही अधिक हम किसी व्यक्ति का अपने आपकी भलाई कर सकने की योग्यता में विश्वास बढ़ाते हैं, उतना ही हम उसे भलाई की ओर ले जाते हैं। यदि किसी बालक में कोई कमजोरी है, तो उसका ढिंढोरा पीटना उसे बिगाड़ने का सबसे बड़ा साधन होता है। जो व्यक्ति बदनाम हो चुका है, उसका सुधरना कठिन होता है। अतएव किसी भी व्यक्ति के सुधारने का पहला कदम यह है कि उसके प्रति स्नेह दिखाकर उसकी भलाइयों के प्रति उसकी दृष्टि ले जाया जाता है। इस प्रकार उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है।

जो व्यक्ति अपराधी बालक को उसका अपराध जानते हुए भी प्यार करता है, वह बालक का स्नेह-पात्र बन जाता है। फिर वह उस पर विश्वास करने लगता है। फिर यह दूसरे में किया गया विश्वास अपराधी बालक का आत्म-विश्वास बन जाता है।

जो व्यक्ति दूसरों की भलाई में विश्वास करता है, वही अपनी भलाई कर सकने की योग्यता में विश्वास करता है। ऐसे व्यक्ति की इच्छाशक्ति बलवती होती है। उसकी कल्पना रचनात्मक होती है। दूसरे के प्रति किये गये प्रेम से उसमें विश्वास उत्पन्न होता है। यह विश्वास आत्मविश्वास बन जाता है। यही आत्मविश्वास परमात्मा में विश्वास बनता है। इससे मनुष्य की कल्पनायें आशावादी अथवा रचनात्मक हो जाती हैं। इससे इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। आशावादी कल्पना का जब इच्छाशक्ति से संयोग होता है, तो मनुष्य अनेक प्रकार के लोक-कल्याण के कार्य करता है। उसमें अनेक सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे उसके चरित्र का नवनिर्माण हो जाता है।

मनोवैज्ञानिकों ने अपराधी बालक के सुधार के लिये वे ही उपाय बताये हैं, जो मानसिक रोगी के उपचार के लिए बताये हैं। स्नेह का भाव उनमें प्रथम है। दूसरा उपाय बालक का मनोविश्लेषण है। इसके लिये कोई भारी ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं। इसके लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि हम किसी भी हालत में बालक के प्रति निराशावादी न बने। उसके मन की हर एक बात को धैर्यपूर्वक सुने, उसे अपने आपको खोलने का पूरा अवसर दें, और उसे निराशावादी न बनने दें। जैसे-जैसे बालक अपनी पुराने दुःख की गाथा सुनाता है तैसे-तैसे उसके दमित भावों का रेचन होता है। फिर उसमें अपने आपको सम्हालने की शक्ति आ जाती है।

अपने मन को खोलने की प्रणाली को ही मनोविश्लेषण कहा जाता है। मनोविश्लेषण स्नेहके वातावरण में सरल हो जाता है। स्नेह के वातावरण में व्यक्ति को मानसिक शिलिथीकरण अपने आप ही हो जाता है। ऐसे ही वातावरण में मनुष्य अनायास उन बातों को कह डालता है, जो अन्यथा वह नहीं कहेगा। साधारणतः मनुष्य अपने विचार प्रकाशन के विषय में सतर्क रहता है। यह सतर्कता मूर्छा में, बीमारी में, स्वप्न में और स्नेह की अवस्था में कम हो जाती है। मनोविश्लेषण में इन सभी अवस्थाओं के भावों को जाना जाता है। इस प्रकार के भाव प्रकाशित करने से मानसिक खिचाव अपने आप ही कम हो जाता है। अपराधी बालक को सुधारने का यह उपाय डा० विलियम ब्राउन ने बड़ा ही सफल पाया है। इसके लिये बीस से लेकर तीस घंटे देने पड़ते हैं।

अपराधी बालक को सुधारने का दूसरा उपाय निर्देश-विधि का उपयोग है। इसके लिये बालक को बिस्तर पर लिटा देना चाहिये और उसे अपने अङ्गों को शिथिल करने का उसी प्रकार का निर्देश देना चाहिये जिस प्रकार का निर्देश व्यक्ति को संमोहन करते समय दिया जाता है। उसे आराम से आँख मूँदकर धीरे-धीरे साँस लेने के लिये कहा जाना चाहिये। इतना करने पर अंगों की शिथिलता आ जाती है। फिर जब वह सोने की अवस्था में हो जावे, तो उससे कहना चाहिये कि उसकी इच्छा-शक्ति बलवान हो रही है और वह प्रतिभावान बन रहा है। यह याद रहे कि किसी भी मानसिक कमजोरी का इस समय नाम न लिया जाय। निर्देश नकारात्मक नहीं होना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों में चित्त की एकाग्रता की कमी होती है और उनकी स्मरण-शक्ति कमजोर होती है। प्रतिदिन की निर्देश-चिकित्सा से इन शक्तियों में सुधार हो जाता है और फिर इस सुधार के कारण मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ जाता जाता है।* फिर वह अपना सुधार सहज में ही कर लेता है।

इस प्रसंग में विलियम ब्राऊन की निम्नलिखित सलाह ध्यान में रखने योग्य है—

Suggestion treatment is an appeal to the unconscious mind, & an aid to the dcvelopment of the will power, and is often beneficial in cases of persistent wrong doing when not prematurerly applied. The person to be healed should be down on a couch, be told to think of sleep and healed by suggestion to relax–as with the initial stages, already dealt with else where, with hypnotism–and then give suggestion that not only will his temptations leave him but the desire to make good will increasing by grow powerful It will be found that feebleness of concentration and weakness of memory are generally present in these patients. They are living on a low level on the emotional side and their intellectual sluggishness corresponds to it...And therefore re-education must include stimulation of their emotional, ethical and intellectual powers, particularly in the direction of extravresion.

डाक्टर विलियम ब्राऊन ने निर्देश चिकित्सा-विधि को अपराधी बालकों के सुधार में बड़ा ही उपयोगी पाया है। आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक निर्देश चिकित्सा-विधि के स्थायी लाभ पहुँचाने की उपयोगिता में विश्वास नहीं करते। वे न तो इसे मानसिक रोगों की चिकित्सा में उपयोगी मानते हैं और न अपराधियों के सुधार में। परन्तु डाक्टर ब्राऊन इसे दोनों कार्यों के लिये उपयोगी मानते हैं। यह अवश्य ध्यान में रखना होगा कि निर्देश चिकित्सा के पूर्व रोगी का अथवा अपराधी व्यक्ति का मनोविश्लेषण होना भी नितांत आवश्यक है। मनोविश्लेषण से जब ऐसे व्यक्ति के दमित भावों का रेचन हो जाता है और चिकित्सक और अपराधी (तथा रोगी) के बीच की दीवार हट जाती है तभी निर्देश चिकित्सा-विधि अपना काम ठीक से करती है।

निर्देश चिकित्सा वास्तव में मनुष्य के गहरे सत्व को क्रियमाण करती है। वह उसके अचेतन मन में उपस्थित अपार शक्ति को जगा देती है और इसी से रोगी का कल्याण हो जाता है। इस प्रसंग में भी डा० ब्राऊन के निम्नलिखित विचार ध्यान देने योग्य हैं।

In cases of juenile delinquency suggestion treatment succeeds because it is aimed at the unconscious level of the mind. and also possibly because when the patient is relaxed and self-forgetful he may be in closer touch with the spiritual universe. Psychotherapy should be spiritual as well as mental reclamation; the individnal must be born again, achive a new view point, and a stranger will. An act of will to be complete, must carry with it the imagination of success. And with no one more than the young offender it is so neeessary that there should be a spiritual rebirth.

मनोविश्लेषण और निर्देश के उपयोग के अतिरिक्त बालक को रचनात्मक कार्य में लगाये रखना नितांत आवश्यक है। रचनात्मक कार्य में लगे रहने से मनुष्य का उपयोगी कार्य कर सकने में आत्मविश्वास बढ़ता है। जैसे-जैसे यह आत्म-विश्वास बढ़ता है तैसे-तैसे अपराधी बालक अपने आप सुधरने लगता है। उदण्डता और अपराध ध्वंसात्मक मानसिक प्रवृतियाँ हैं। ये रचनात्मक प्रवृत्तियों के अभाव में बढ़ जाती है। जब रचनात्मक रूप से बालक की मानसिक शक्ति प्रकाशित होने लगती है, तो ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ अपने आप कम हो जाती हैं।

हमारे मन की अलौकिक शक्तियाँ

मनुष्य की शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक साधारण अथवा लौकिक दूसरी, असाधारण अथवा अलौकिक। मनुष्य अभ्यास के द्वारा इन दोनों प्रकार की शक्तियों को बढ़ा सकता है। मनुष्य की साधारण शक्तियाँ चित्त की एकाग्रता, धारण-शक्ति की प्रवीणता, स्मरण की तीव्रता, बुद्धि की प्रखरता और इच्छा-शक्ति की दृढ़ता है, इन सभी शक्तियों के बढ़ाने के लिये मनुष्य को दो प्रकार के अभ्यास करने पड़ते हैं,—एक जानबूझकर इन शक्तियों का व्यायाम करना और दूसरे शरीर और मन की शैथिलीकरण की अवस्था में इन शक्तियों के बढ़ने के लिये आत्मनिर्देश देना। प्रथम प्रकार का अभ्यास हमारे विद्यालयों के द्वारा कराया जाता है दूसरे प्रकार के अभ्यास के लिये कुशल मनोवैज्ञानिक की देखरेख, उसकी सलाह, उसके पथप्रदर्शन की आवश्यकता होती है। अपने चेतन मन की शक्तियों को बढ़ाना अर्थात् साधारण मानसिक शक्तियों को अधिक-से-अधिक विकसित करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। हर एक सुंदर शिक्षा-प्रणाली का यही उद्देश्य होता है।

जहाँ तक अलौकिक अथवा असाधारण मानसिक शक्तियों की बात है, इन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करना खतरे से खाली नहीं। अलौकिक शक्तियाँ वे हैं, जिन्हें प्राप्त करके हम कुछ ऐसी बातें कर सकते हैं जिन्हें भौतिक विज्ञान की प्रणाली से समझाया नहीं जा सकता। मनुष्य के मन में ऐसी शक्तियाँ हैं इसमें किसी भी गम्भीर चिंतन करनेवाले व्यक्ति को सन्देह नहीं है। उदाहरणार्थ मनुष्य अपने मन में ऐसी शक्ति को विकसित कर सकता है कि उसकी आँख पर पट्टी बँधी हो और वह किसी गाँव के सभी गली कूचों में घूम जाय। आज से २० वर्ष पूर्व लेखक के एक छात्र ने कालेज की विदाई के समय ऐसा ही एक चमत्कार दिखाया था। उसकी आँखपर पट्टी बाँध दी गई थी। फिर उसके पीछे १० फुट दूरी पर रखे हुए एक श्यामपट पर कालेज के प्रिंसिपल ने कुछ वाक्य अंग्रेजी में लिखे। इन वाक्यों को इस विद्यार्थी ने ठीक जैसे का तैसा बता दिया। यहाँ इस विद्यार्थी की अलौकिक शक्ति के विषय में कोई सन्देह का स्थान ही नहीं था। यह विद्यार्थी लेखक का भली-प्रकार से जाना-पहचाना व्यक्ति था, और उसी के द्वारा वर्ष भर तक पढ़ाया गया था। उसकी आँख पर पट्टी कालेज के ही एक अध्यापक ने बाँधी थी। श्यामपट उसके मुँह की ओर न रहकर पीठ की ओर था और उस पर लिखा गया वाक्य उसके किसी साथी के द्वारा

लिखा न होकर कालेज के प्रिंसिपल के द्वारा लिखा गया था। वाक्य भी ऐसा नहीं था, जिसके विषय में वह विद्यार्थी अन्दाज लगा सके। वाक्य के पढ़ने में उसने एक भी शब्द की गलती नहीं की। जब विद्यार्थी लेखक से विदाई ले रहा था, तब उसने इस अलौकिक शक्ति के रहस्य के बारे में पूछा तो विद्यर्थी ने यही कहा कि 'चित्त की एकाग्रता के अभ्यास से मनुष्य को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में चलनेवाले विचारों का पता चल जाता है।' उसने आगे यह भी कहा कि 'आपको चित्त की एकाग्रता का अभ्यास बहुत अच्छा है। अतएव शीघ्र ही आप इस शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।'

जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति के मन में चलनेवाले विचारों को हम अपने अलौकिक प्रयास से जान सकते हैं, उसी प्रकार भविष्य में होनेवाली घटनाओं की रूपरेखा भी हमें ज्ञात हो सकती है। इस प्रसंग में काशी मनोविज्ञानशाला में हिन्दू स्कूल के भूतपूर्व हेडमास्टर डा० ओटो उल्फ द्वारा दिया गया भाषण, जो मनोविज्ञान के मार्च १९५२ के अंक में प्रकाशित हुआ है उल्लेखनीय है। 'भविष्य में होनेवाली घटनाओं का चित्र कभी-कभी मनुष्य के मन में उसकी जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में उसी प्रकार आ जाता है, जिस प्रकार वे बाद को घटित होती हैं। जिन लोगों से हमारा विशेष स्नेह होता है उनके जीवन में यदि कोई दुर्घटना होनेवाली है, तो उसका चित्र हमारे अचेतन मन में आ जाता है। यदि किसी व्यक्ति का मन निर्मल है, तो यह घटना दिवास्वप्न में चित्रित हो जाती है।' मेरी माता के जीवन में होनेवाले इस प्रकार के दो एक अनुभव उल्लेखनीय हैं। एक बार मेरी माँ ने देखा कि एक नवयुवक जो उस समय फौज में काम कर रहा था, एक इञ्जन के पास असावधानी की अवस्था में खड़ा हुआ है, इसी बीच इञ्जिन फट पड़ा और नवयुवक को बहुत चोट लगी। मेरी माँ इस नवयुवक को स्नेह की दृष्टि से देखती थी। उसने तुरन्त ही उस युवक को बुलाया और अपना स्वप्न सुनाकर उसे भावी दुर्घना के विषय में सचेत कर दिया। इसके तीन मास पश्चात् यह युवक वास्तव में एक मशीन के पास खड़ा काम कर रहा था, उसी समय उसे एक विलक्षण सी आवाज सुनाई थी, मेरी माँ की कही हुई बात उसे इस समय याद आ गई और वह मशीन से दूर भाग कर मकान के बाहर चला आया। वह बाहर आया ही था कि मशीन फट गई।

इसी प्रकार एक बार माँ ने अपने स्वप्न में देखा कि दूध की गाड़ी ले जानेवाले घोड़े पागल हो गये हैं और वे दूध की गाड़ी को इधर-उधर दौड़ाने लगे हैं। इस गाड़ी में दूध बेंचनेवाला फँस गया और मरते-मरते बचा। माँ ने जब अपना स्वप्न दूसरे लोगों से कहा, तो वे हँसने लगे। परन्तु वह नहीं मानी

और उसने दूधवाले को बुलाकर इस प्रकार की घटना से उसे सचेत किया। इस कथन के कुछ समय बाद ही वास्तव में स्वप्न देखी गयी घटना घटी और समय पर चेतावनी मिल जाने के कारण दूधवाला अपनी जान बचा सका।

डा० ओटो उल्फ ने कुछ उदाहरण देकर इसी व्याख्यान में यह भी बताया कि जिस प्रकार बिना किसी भौतिक साधन के हम दूसरे व्यक्ति के मन के विचार जान सकते हैं और दूर की घटनाओं का ज्ञान कर सकते हैं; उसी प्रकार अपने प्रिय व्यक्ति के सम्बन्ध की बातें भी हमें ज्ञात हो जाती हैं। कभी-कभी जानवरों के मन की बातें भी उनको प्यार करनेवाले स्वामी जान लेते हैं, डा० ओटो उल्फ ने अपने बचपन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करते हुए बताया—'मैं कभी-कभी रात को देर करके घर लौटता था। मैं अपने कमरे की ताली कभी-कभी किसी ऐसी जगह रख देता था जहाँ मेरा हाथ नहीं पहुँचता था। एक दो बार मुझे अपने घर के दरवाजे पर देरतक ठहरना पड़ा। इसी बीच मैंने कल्पना की कि मैं सीढ़ी से चलकर दूसरी मंजिल पर पहुँच गया हूँ और वहाँ पर बरांडा पार करके अपनी माँ के कमरे के किवाड़ को खटखटाता हूँ और धीरे-धीरे माँ-माँ कहता हूँ। इस कल्पना का परिणाम यह होता था कि मेरी माँ अपने विस्तर से उठकर कमरे के बाहर आती और सीढ़ी से उतर कर नीचे कमरे के किवाड़ खोलती जहाँ मैं उसे खड़ा मिलता।'

'अभी हाल की बात है कि एक दिन मैं अपने कमरे में किसी फाइल को ढूँढ़ने गया, जब मैं कमरे के बाहर आया तो अनायास मुझे पीछे हटकर देखने की प्रेरणा हुई। मैंने वहाँ देखा कि कमरे के दरवाजे में अधर पर मेरा कुत्ता टँगा हुआ है। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि कुत्ता अधर में कैसे टँग गया। मैं जग रहा हूँ कि सो रहा हूँ। फिर विचार आया कि कुत्ते को ढूँढ़ूँ वह कहाँ है। कुत्ता घर में नहीं दिखाई दिया। इसी बीच एक बन्द अल्मारी से कुछ आवाज-सी आई। उसे खोलकर देखा गया, तो उसमें कुत्ता बन्द था। पीछे ज्ञात हुआ कि जब आलमारी खुली हुई थी तब कुत्ता उसमें बैठ गया था और कुछ दूसरी बातों में ध्यान फँसे रहने के समय ही आलमारी का ताला बन्द कर दिया गया था। बन्द आलमारी में बैठा हुआ कुत्ता जब घबड़ाने लगा, तो संभवतः उसने अपने विचार अपने मालिक को भेजे, इसी के कारण कुत्ता एक दिवा-स्वप्न में दरवाजे में टँगा हुआ दिखाई दिया।'

दूर की घटनाओं को जान सकने के दो उदाहरण डा० विलियम ब्राउन ने अपनी 'साइकोलोजी एण्ड साइकोथेरेपी' नामक पुस्तक में दिये हैं। प्रथम उदाहरण स्वीडेन बोर्ग का है। एक बार स्वीडेनबोर्ग इमैनुअल कान्ट के साथ

बर्लिन की एक पार्टी में बैठे हुए थे। इसी समय वे अचानक कुछ बेचैन से हो गये। कुछ देर बेचैन रहने के बाद वे शांत हो गये। वहाँ पर उपस्थित लोगों ने जब उनके इस प्रकार बेचैन और फिर शान्त होने का कारण पूछा, तो उन्होंने बताया कि स्टाकहोम में आग लग गई थी और वह उनके मकान के पास आ गई थी, इसीलिये वे बेचैन हो गये थे। परन्तु मकान में लगाने के पूर्व ही आग बुझा दी गई। अतः वे शान्त हो गए। पता चलाने पर घटना सत्य सिद्ध हुई। इसका वर्णन कान्ट ने अपनी 'आत्मजीवनी' में दिया है। दूसरी घटना डा० विलियम ब्राउन द्वारा किये गये एक सैनिक की है। इस सैनिक को फ्रान्स के एक अस्पताल में सम्मोहनावस्था में लाकर अपने घर का ध्यान करने को कहा गया और वहाँ जो कुछ उस समय हो रहा था उसका वर्णन करने को कहा गया। उस सैनिक ने जो वर्णन किया, पीछे खोज करने पर वह सत्य पाया गया।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य को क्या अपने मन की ऐसी अलौकिक शक्तियों को भी जाग्रत करना चाहिये, जिनसे वह दूसरे व्यक्तियों के मन की बात जान ले, दूर की घटनाओं का ज्ञान कर ले, और भविष्य में होनेवाली घटनाओं का भी दिग्दर्शन कर ले। इस विषय में हमें जो आधुनिक मनोविज्ञान से प्रकाश मिलता है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। मनुष्य में यह अलौकिक शक्तियाँ उसकी सामान्य मानसिक अवस्था में नहीं आतीं; केवल असाधारण मानसिक अवस्था में मनुष्य की सामान्य चेतना और उसकी अन्तश्चेतना में विभाजन हो जाता है। इस प्रकार की विभाजन हिस्टीरिया के रोग में प्रायः देखा जाता है। अतएव हिस्टीरिया का रोगी बहुत कुछ ऐसी बातें कह देता है, जो सामान्य व्यक्ति नहीं जान सकते। कभी-कभी उसकी भविष्यवाणी ठीक हो जाती है। कभी वह किसी व्यक्ति की छिपी बात को बता देता है और कभी दूर की बातों को कह देता है। परन्तु इन सब बातों के करने पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता, यह सब अनायास अथवा उसकी इच्छा के प्रतिकूल होती हैं। इसी-लिये हिस्टीरिया के रोगी के विषय में कहा जाता है कि उसके शरीर में कोई विशेष प्रकार का भूत-प्रेत आ गया है। भूत-प्रेत की शक्ति मनुष्य की सामान्य चेतना की शक्ति से कहीं अधिक होती है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य की यह भूत-प्रेत की शक्ति उसकी अचेतन मन की शक्ति ही है जो भूत-प्रेत की कल्पनाओं में आरोपित होकर प्रकाशित होती है। जिस शक्ति की उपस्थिति मनुष्य की चेतना साधारण नियमों के परे देखती है, उसके आने के लिये किसी असाधारण तत्व की कल्पना भी करनी पड़ती है।

जिस प्रकार हिस्टीरिया के रोगी में मानसिक विभाजन की अवस्था उसकी

इच्छा के प्रतिकूल ही उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह अवस्था अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपनी इच्छा से भी कर सकता है। इसका उदाहरण ओझाओं में और भूत-प्रेत बुलानेवाले प्लैन्चेट के खेल दिखानेवालों में पाया जाता है। अपने मन और शरीर के शैथिलीकरण की अवस्था में यदि मनुष्य किसी विशेष प्रकार की शक्ति आने की कल्पना करे, तो वह इस शक्ति को कुछ दिन के अभ्यास के बाद पा लेता है। इस शक्ति को सामान्य चेतना की शक्ति नहीं कहा जा सकता है। अतएव इस प्रकार का अभ्यास करनेवाले लोग ऐसी शक्ति को देवी-देवता आदि की शक्ति कहते हैं। ओझा लोगों में उसी प्रकार का मानसिक विच्छेद हो जाता है, जैसा हिस्टिरिया के रोगियों को हो जाता है। परन्तु जहाँ प्रथम प्रकार का मानसिक विच्छेद व्यक्ति की इच्छा के प्रतिकूल होता है, वहाँ द्वितीय प्रकार का विच्छेद स्वेच्छा से होता है। उसका निश्चित समय और स्थान भी होता है। अब यदि इस प्रकार का विच्छेद कोई व्यक्ति बार-बार करने लगे और इससे वह विशेष प्रकार का लाभ उठाने लगे, तब उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी यह विच्छेद होने लगता है। इसलिये भूत-प्रेतों को बुलानेवाले, देवी-देवताओं का चमत्कार दिखानेवाले व्यक्ति अपने जीवन में सुखी न रहकर दुखी हो जाते हैं। उनके भूत-प्रेत या देवी-देवता उनका लाभ न कर उनकी हानि ही करने लग जाते हैं। ऐसे लोगों को विशेष प्रकार के टोना-टोटका आदि करना ही पड़ता है।

इस तरह मनुष्य की यह अलौकिक शक्तियाँ उसकी आत्मा का प्रसार न कर उसे अन्धकार में डालती हैं। इसीलिये पुराने योगियों ने इन अलौकिक शक्तियों के प्रादुर्भूत करने के प्रति साधकों को सचेष्ट किया है। इन ऋद्धि-सिद्धियों को जगाकर मनुष्य आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है और इनसे वह स्थायी लाभ प्राप्त न कर हानि ही प्राप्त करता है। मनुष्य की सबसे बड़ी हानि अपनी सामान्य चेतना को खो देना है। जो चेतना सभी प्राप्तियों का मूल्यांकन करती है यदि हम उसी को खो दें, तो हमारे पास रह ही क्या जायेगा?

मनुष्य अपनी चेतना का प्रसार करके ही उस वास्तविक अलौकिक शक्ति का अपने आपमें साक्षात्कार कर सकता है। चेतना का प्रसार चेतना को हटाकर नहीं हो सकता, जैसे कि हिस्टीरिया के रोगियों अथवा देवी-देवताओं के साधकों की मानसिक अवस्था में होता है, इन लोगों में सामान्य चेतना हटकर दूसरी चेतना आ जाती है। इससे व्यक्ति का कोई लाभ न होकर उसकी हानि होती है। यदि मनुष्य अपनी सामान्य चेतना को उसकी समकक्षी दूसरी चेतना के बदले न छोड़े, वरन् वह उसे एक महान् चेतना से मिला दे, तो एक ओर उसकी

सामान्य चेतना का लोप हो जायगा और दूसरी ओर उसका असीम प्रसार भी हो जायगा। परन्तु यह तभी हो सकता है जब मनुष्य चेतना में सीमा उत्पन्न करने-वाली सभी प्रकार की वासनाओं का—चाहे वे चेतन मन में उपस्थित हों अथवा अचेतन मन में—परित्याग करने में समर्थ हो। यह कार्य अत्यन्त कठिन है। जब तक मनुष्य पूर्णतः निरीह नहीं हो जाता, तब तक उसके व्यक्तित्व-द्वारा प्रकाशित अलौकिक शक्तियाँ उसको लाभ न कर अन्त में हानि ही करती हैं। कहा जाता है कि ईश्वर की शक्ति का उपयोग ईश्वर ही कर सकता है। अलौकिक शक्तियाँ ईश्वरी शक्तियाँ हैं। जब हम अपने आपको आध्यात्मिक तत्व से मिला देते हैं, अर्थात् जब हमारी कोई अपनी इच्छा नहीं रह जाती; तभी हमारे व्यक्तित्व-द्वारा प्रकाशित अलौकिक शक्तियाँ अपने आपका और लोक का कल्याण करती हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी अन्तरात्मा की समीपता पाता है, वह अपने आप में अलौकिक शक्तियों का उतना ही अधिक साक्षात्कार करता है। इसके लिये मनुष्य को मानसिक शुद्धि की आवश्य-कता होती है अर्थात् उसे एक ओर अपनी चेतन और अचेतन वासनाओं का त्याग करना पड़ता है और दूसरी ओर इस त्याग के अभिमान का परित्याग करना पड़ता है; जो अपने आपको शून्य रूप बना देता है, उसी की शक्ति असीम हो जाती है।

क्षतिपूर्तिकरण

जिस प्रकार आरोपण, आदर्शीकरण आदि मानसिक क्रियाएँ मनुष्य के व्यवहार को विलक्षण बना देती है, उसी प्रकार क्षतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया भी मनुष्यों के व्यवहारों को बड़ा ही जटिल एवं विलक्षण बना देती है जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी में स्वभावतः अपनी शारीरिक कमी की पूर्ति करने की प्रकृति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में अपनी मानसिक कमी की पूर्ति करने की प्रेरणा होती है। यदि शरीर का कोई अंग दुर्बल है, तो कोई दूसरा अंग प्रबल हो जाता है। अन्धे लोगों की श्रवण शक्ति अथवा स्पर्श-शक्ति सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक होती है। नाटे लोग ऊँचे स्वरसे बोलते हैं। दुर्बल लोगों की चिन्तन-शक्ति बढ़ जाती है। इसी तरह यदि किसी मनुष्य को कोई शारीरिक, सामाजिक अथवा आर्थिक कमी की वेदना त्रास देर ही हो, तो स्वभावतः उसे अपनी इन कमियों की पूर्ति के निमित्त अपनी कोई विशेष मानसिक शक्ति को बढ़ाने की प्रेरणा होती है। यूनानी मेथालाजी में 'विनस' (Venus) बहुत सुन्दर देवी है, परन्तु वह व्यभिचारिणी है, सिन्धिया काली है, परन्तु वह बड़ी चरित्रवान है सुकरात देखने में कुरूप था परन्तु यूनान का सबसे बड़ा विचारक था और चरित्र में वह संसार के महात्माओं में से एक था। अष्टावक्र आठ जगह से टेढ़े थे। जब वे राजा जनक की सभा में पहुँचे तो वहाँ उपस्थित सभी विद्वान उनके रूप को देखकर हँस पड़े, परन्तु दार्शनिक विषयों पर वादविवाद हुआ, तो सभी पंडित उनके सामने मूर्ख सिद्ध हुए। राजा जनक ने उनको अपना गुरु बना लिया। चाणक्य इतने कुरूप थे कि राजानन्द ने उन्हें अपमानित करके सभा से निकाल दिया। कहा जाता है कि गोरा शूद्र और काला ब्राह्मण बड़े अशुभ होते हैं। परन्तु इनका वर्ण तो बिलकुल ही काला था। इन्हीं चाणक्य ने नन्द वंश के राज्य का नाश किया, यूनानियों को देश से भगाया और चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत का सम्राट् बनाया। नेपोलियन बोनापार्ट शरीर से दुबला-पतला और कद में नाटा था उसे उसके स्कूल के साथी लड़की कहकर चिढ़ाया करते थे इसी लड़की नामधारी नेपोलियन ने, सारे विश्व को अपनी बहादुरी से थर्रा दिया था। जूलियस सिजर, चंगेज खाँ और अकबर को मूर्छा का रोग था डेमोस्थनीज, अलेक्जेण्डर (सिकन्दर) एवं डार्विन हकलाते थे; रणजीत सिंह काने थे। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि यदि मनुष्य में एक प्रकार की कमी हो तो दूसरी प्रकार की खूबियाँ उस कमी की पूर्त्ति के

रूप में उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार का पूर्त्तिकरण सामान्य, स्वस्थ तथा उपयोगी मानसिक प्रतिक्रिया है। इससे भिन्न कुछ मानसिक प्रतिक्रियाएँ ऐसी हैं जो असाधारण और अस्वस्थ होती है। इन्हीं प्रतिक्रियाओं को अतिपूरण की प्रतिक्रिया कहा जाता है। हम कितने ही लोगों में सफाई की बेहद भक देखते हैं। हमारे राष्ट्र के एक प्रमुख नेता* शौच के बाद देर तक साबुन से हाथ मलते हैं। एक दूसरी राष्ट्र सेविका, जो विधानसभा की सदस्या भी है बाहर से लौट कर आने पर पहनने ओढ़ने के सारे कपड़े धोती हैं। जूते भी पानी से धोते हैं। बाजार से लाया हुआ गेहूँ साबुन से धोया जाता है। उनके कुछ रिस्तेदार उनके घर जाड़े के दिनों में इसलिये नहीं आते कि उन्हें अपने कम्बल वगैरह धोने पड़ेंगे। हमारी एक छात्रा जब साफ चादर पर बैठती है, तब उसे सन्देह रहता है कि जिसमें कोई न कोई गन्दगी अवश्य है। इस सन्देह के कारण वह किसी विषय पर ठीक से नहीं सोच पाती है।

उपर्युक्त उदाहरणों में दर्शायी गयी गन्दगी के प्रति सतर्कता वास्तव में अपने मन के भीतर उपस्थित गन्दगी के प्रति सतर्कता की प्रतिक्रिया थी। इस प्रकार की प्रतिक्रिया को अतिपूर्त्तिकरण की प्रतिक्रिया कहते हैं। जिस मनुष्य के मन में प्रबल अनैतिक वासनाओं के कारण अत्यन्त मानसिक बेचैनी रहती है वह बाहर की अव्यवस्था को देखकर बेचैन हो जाता है। वह बाहर की अव्यवस्था को ठीक करके अपनी आन्तरिक अव्यवस्था को भुलाने का प्रयत्न करता है यह अचेतन मन की अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया है। अचेतन मन की सभी क्रियाओं के समान यह मनुष्य के अनजाने होती है। यदि इस प्रतिक्रिया का कोई आन्तरिक अर्थ उस व्यक्ति को बताने की चेष्टा करे तो वह उससे बेहद नाराज हो जायेगा। जब अनेक प्रकार के कष्ट भोग कर स्वयं ही मनुष्य अपनी इन असाधारण चेष्टाओं का अर्थ जानना चाहता है तभी उसे लाभ होता है।

अतिपूर्तिकरण एक पूर्तिकरण में अन्तर यह होता है कि जहाँ पहले प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति एवं समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होती है, वहाँ दूसरे

---

* उपर्युक्त नेता को एक दिन एक बड़े कालेज में भाषण देना था। भाषण देने के पूर्व किसी मित्र ने उन्हें जलपान कराया, जिनमें रसगुल्ला भी दिया गया। रसगुल्ला का थोड़ा सा रस उनकी धोती पर गिर पड़ा। इस धोती पर पड़े धब्बे ने इस प्रकार बेचैन कर दिया कि वे न तो देर तक नहाये ही वरन् धोती को बहुत समय तक धोते रहे इसके कारण भाषण के स्थान पर पहुँचने में एक घण्टे देर कर दिये।

प्रकार की प्रतिक्रियाएँ निरर्थक ही नहीं होती, वरन व्यक्ति के लिये हानिकारक सिद्ध होती है। लेखक का एक छात्र यदि एक चम्मच चीनी अपने चाय के कप में डालने के लिये दूसरे के डिब्बे से ले लेवे तो उसे इतनी मानसिक बेचैनी हो जाती थी कि वह बाध्य होकर उस चम्मच भर चीनी को सबकी आँख बचाकर डब्बे में डाल देता था। हमारे एक मित्र ने एक ताँगेवाले को एक आना पैसा भाड़े में कम दिया इससे उन्हें इतनी मानसिक बेचैनी हुई कि वे ताँगेवाले के घर का पता लगाने का प्रयास करने लगे। घर का पता न लगने पर उन्हें दो तीन दिनों तक मानसिक अशान्ति बनी रही। इस प्रकार की अशान्ति का वास्तविक कारण वह नग्न घटना नहीं जिसके कारण बाहरी रूप से अशान्ति दिखायी देती है। उनकी अशान्ति का कारण उनके अचेतन मन के भीतर की घटनाएँ बाहरी अशांति को व्यक्त करती है। छोटी-छोटी बातों में मनुष्य सच्चा बनकर अपनी भयंकर चोरी की मनोवृत्ति को छिपाने की चेष्टा करता है। यह अचेतन मन के अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया का परिणाम है। जहाँ नैतिकता के अत्युच्चादर्श की चर्चा होती है वहीं दुराचार एवं व्यभिचार की संभावना रहती है। मनुष्य अपने द्वेष की मनोवृति को विश्वबन्धुत्व के नारे के नीचे छिपाना चाहता है अन्तर्मन में उपस्थित हिंसा की मनोवृत्ति अहिंसा के आवरण को धारण कर लेती है। ऐसे नैतिक मूल्यों की चर्चा करना बुरा नहीं परन्तु जहाँ इनकी अत्यधिक चर्चा होती है वहाँ विरोधी प्रवृत्तियों की अचेतन मन में उपस्थिति रहती है। चोर की दाढ़ी में तिनका वाली कहावत अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया के मनोविज्ञान को व्यक्त करती है।

अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया का एक सामान्य उदाहरण लड़ाई में लड़े जानेवाले सिपाहियों के व्यवहार में पाया जाता है। जो सिपाही युद्ध से अत्यन्त डरते हैं वे ही युद्ध में बहादुरी के कामों की डींग हाकते हैं। ऐसे ही लोगों को एकाएक लकवा का रोग हो जाता है इस प्रकार उनका दमित भय बाहर आ जाता है। जिन लोगों में नैतिकता सम्बन्धी अतिमूर्तिकरण की प्रतिक्रिया पाई जाती है, उन्हें किसी प्रकार की आत्मस्वीकृति करना बड़ा कठिन होता है। ऐसे लोग दूसरे लोगों के शिक्षक बन जाते हैं। और इस तरह अपनी एवं दूसरों की क्षति करते हैं। मन की इस क्रिया को समझ कर हम बहुत से लोगों को अनेक प्रकार के सम्भव दुःख एवं दुर्घटनाओं से बचा सकते हैं।

———

शिक्षा में जनतन्त्रवाद

भारतवर्ष ने अपने राष्ट्रीय-विकास का लक्ष्य सम्पूर्ण जनतन्त्रवाद की स्थापना बनाया। जनतन्त्रवाद के तीन अङ्ग हैं। राजनैतिक जनतन्त्र, आर्थिक जनतन्त्र और सामाजिक जनतन्त्र। अब तक जो कुछ हम कर पाए हैं वह राजनैतिक जनतन्त्र की स्थापना की ओर हुआ है। हमारे विदेशी शासक हमारे देश को छोड़कर चले गए। उनके स्थान पर अब हमारे ही देश के आदमी राजमन्त्री बनकर राज्य का संचालन कर रहे हैं। इन राजमन्त्रियों को बनानेवाली सत्ता कोई बाहरी सरकार नहीं है वरन हमारी ही आम जनता है। आज भारतवर्ष के प्रत्येक नागरिक को यह हक है कि वह विधानसभा के सदस्यों को चुने और फिर ये विधान सभा के सदस्य देश की सरकार बनाते हैं। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप देश का प्रत्येक नागरिक अपने आपका महत्व समझने लगा है। पुराने समय में सारी शक्ति राजा के हाथ में थी और देश का निवासी अपने आपको इस राजा का नगण्य गुलाम समझता था। राजा को शक्ति देने-वाली सत्ता भगवान मानी जाती थी। जनता का कर्तव्य इतना ही था कि राजा की आज्ञा माने। अब जनता ने इस परावलम्बन के भाव को समाप्त कर दिया। आज राजा को देव-पुरुष नहीं माना जाता वरन् एक सामान्य व्यक्ति माना जाता है। वास्तव में पुराना राजा तो अब समाप्त ही हो गया।

हमने थोड़ी दूर तक आर्थिक जनतन्त्र वाद की स्थापना की भी चेष्टा की है। आज संसार के सभी लोग समाजवाद की ओर प्रगतिशील हैं। कांग्रेस ने भी अपना लक्ष्य समाजवाद बना लिया है। गरीब और अमीर का भेद जब पूर्णतः मिट जाता है तब आर्थिक जनतंत्रवाद स्थापित हुआ माना जाता है। यह लक्ष्य आज हमें प्राप्त नहीं है परन्तु धीरे-धीरे भारतवर्ष उसी की ओर जा रहा है। तीसरे प्रकार का जनतंत्रवाद सामाजिक जनतंत्रवाद है। सामाजिक जनतंत्रवाद समाज की वह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्ति के समान समझता है और दूसरे व्यक्ति को अपने समान मानता है। सामाजिक जनतन्त्रवाद में जाति-पाँति के भेद-भाव और समाज में बड़े-छोटे के भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं। इस जनतंन्त्रवाद की स्थापना में निम्नलिखित चार बातें आवश्यक हैं—

(१) सबके साथ समत्व का भाव।

(२) संघ-बुद्धि की श्रेष्ठता।

(३) नियम की पाबन्दी।

(४) मानवता और पेशा में भेद करना।

जहाँ तक पहले सिद्धान्त की बात है यह बात हमारे प्राचीन ऋषियों ने हमें सिखाई। गीता में बताया गया है कि श्रेष्ठ नर वह है जो अपने आपको दूसरों के समान देखता है और दूसरों को अपने समान देखता है। अर्थात् जो अपने आपको दूसरों से नीच नहीं मानता और न दूसरों को अपने आप से ऊँच मानता है। जहाँ तक अपने को दूसरे के समान मानने की बात है वह भारतवर्ष की राजनीतिक जागृति से स्वभावतः सबमें आ गई है। यह सिद्धान्त हमको अपने अधिकार के लिए लड़ने के लिए प्रेरित करता है कि हम दूसरों के बराबर हों। अधिकार के लिए लड़ना जनतन्त्रवाद की नितान्त आवश्यक आधारशिला है। राजतन्त्रवाद में चर्चा कर्तव्यों की होती थी। धर्मशास्त्रों में भी चर्चा कर्तव्यों की ही होती थी। वहाँ अधिकार की कोई चर्चा नहीं है। वास्तव में राजतन्त्रवाद की यही विशेषता है कि मनुष्य राजा को देवता माने और देवता की आज्ञा मानना अपना कर्तव्य समझे। राजतन्त्रवाद की मनोवृत्ति का परिणाम सामाजिक व्यवहार में भी यही पड़ता है कि मानवता के अधिकारों का ध्यान भी किसी को नहीं रहता। जिस प्रकार ब्राह्मण को देवता माना जाता है उसी प्रकार पिता को, ऋषि को और अधिकारी को भी देवता मान लिया जाता है। प्राचीन स्नातक को गुरुकुल के बाहर जाते ही उपदेश दिया जाता था मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, ऋषि देवो भव, अर्थात् सभी को देवता रूप मानना और अपने आपको कुछ नहीं मानना। जनतन्त्रवाद के युग में आत्मदेवो भव को ही सब से अधिक प्रधानता दी जाती है और यदि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को महान मानने लगता है तो वह अपने अधिकार के लिए भी लड़ता है। अब हम माता-पिता, ऋषि और अधिकारी तथा राजा के कर्मचारी किसी को भी देवता नहीं मानते, सभी को मानव मानने लगे हैं। जिस प्रकार जनता सरकार से अपने अधिकारों की माँग करती है उसी प्रकार मजदूर मिल-मालिकों से अपने अधिकार माँगते हैं। विद्यार्थी छात्र-संघ बनाकर अपने अधिकार के लिए लड़ते हैं और प्रत्येक दमित कर्म के लोग संगठित उच्चवर्ग से अपने अधिकारों की माँग करते हैं। अब वे ही लोग जीवित रह सकते हैं जो अपने आप को संसार का विशेष व्यक्ति न मानकर सामान्य व्यक्ति मानते हैं। प्राचीन काल में विद्यार्थी गुरुओं को साष्टांग दण्डवत करते थे और गुरु लोग भी अपने चरण छुवाने के लिए अपने पैर फैला देते थे। जनतंत्रवाद के युग में ये सब असभ्य व्यवहार माने जाते हैं। यथा राजा तथा प्रजा।

जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। जब राजा में से देवत्व चला गया तो सारी प्रजा में से देवत्व चला गया। जैसे प्राचीन काल में राजा अपने को निरंकुश शक्तिधारी मानता था उसी प्रकार पिता भी अपने को घर का राजा मानता रहा। वह अपनी पत्नी का स्वामी तो था ही अपने बच्चों के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करता था जैसा राजा प्रजा के साथ करता है। घर में पिता जो चाहे वह करता था। उसकी बात को काटने का किसी को अधिकार नहीं था। अब पुरानी व्यवस्था का अन्त हो गया है। अब जो चाहता है कि मेरे शिष्यगण मुझे पूजें उसे उसके छात्रों की निन्दा और उपेक्षा ही मिलेगी। इसी प्रकार जो पिता चाहता है कि मेरे लड़के मुझसे डरें और मेरे हुकुम की पाबन्दी करें उसे कष्ट ही भोगना पड़ेगा।

अभी भारतवर्ष में जनतन्त्र वाद का पहला अनुभव हुआ है, अतएव अधिकारों की अधिक चर्चा है। अपने को दूसरों के बराबर बनाने की भावना तो हममें आ गई है परन्तु दूसरों को अपने समान बनाने की भावना का हममें जागरण नहीं हुआ है। पहले प्रकार की भावना से अधिकारों की उत्पत्ति होती है और दूसरे प्रकार की भावना से कर्तव्यों की। परन्तु जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा वैसे-वैसे मनुष्य अपने अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों को भी पूरा करने की चेष्टा करेगा।

जनतन्त्रवाद की दूसरी माँग संघ भाव की है। जो व्यक्ति जनतन्त्रवादी है वह अपने आप को समाज से अलग करने की चेष्टा न करके, सबसे मिल जुल कर रहने की चेष्टा करता है। जनतन्त्र वाद में गुरुशिष्य एक साथ बैठकर विचार विमर्श करते है। यदि शिक्षक ने कोई बात कही तो विद्यार्थी उस पर अपना विचार प्रकट करता है। जनतन्त्रवादी शिक्षा में व्याख्यान पद्धति समाप्त होती है और उसके बदले विचार-विमर्श पद्धति का आगमन हो जाता है। उसी प्रकार घर में भी पिता वही काम करता है जो सम्पूर्ण परिवार का निर्णय होता है। घर का प्रत्येक सदस्य इस निर्णय करने में अपना सहयोग प्रदान करता है। किसी कालेज में प्रिन्सिपल और अध्यापक-गण आपस में विचारविमर्श करते है तभी कुछ काम करते हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्र में समूह और संगठन के भाव की प्रधानता रहती है।

प्रजातन्त्रवादी समाज का तीसरा गुण उस नियम की पाबन्दी है जिसे पूरे संघ ने मिलकर बनाया है और जिसे सम्पूर्ण संस्था का प्रत्येक सदस्य अपना धर्म समझता है। इस समाज में एक ओर निर्णय के पहुँचने में प्रत्येक व्यक्ति का हाथ होता है परन्तु दूसरी ओर उसके पालन करने में सभी लोगों के

लिए अनिवार्यता रहती है। राजतंत्रवादी समाज में राजा यदि अपने बनाये नियम को तोड़े तो उसकी कोई आलोचना नहीं करता। कहा जाता है 'समरथ को नहिं दोष गोसाईं'। राजा को नियम बनाने का अधिकार है और जनता को नियम पालन करने का। राजा नियम के ऊपर है। फिर राजा जिसको अपने से मुक्त करे वह उससे मुक्त ही है। जनतन्त्रवादी समाज में इस प्रकार की विशेष मुक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है।

जनतंत्रवाद की चौथी माँग मानव को मानव के रूप में मानने की है। सामान्य समाज में मनुष्य की इज्जत या कीमत पेशे से होती है। मनुष्य की मानवता के नाते कोई भी इज्जत नही होती। यदि कोई आदमी चपरासी का काम करता है तो वह सब समय के लिये चपरासी ही हो जाता है। जनतंत्रवाद में ऐसा नहीं होता है। चपरासी तभी तक चपरासी है जब तक वह आफिस में काम करता है। बाकी समय वह दूसरों के समान ही अधिकार रखने वाला माना जाता है। अविकसित समाज में पेशा मनुष्यत्व को खा जाता है। यदि कोई सफाई का काम करता है तो हम उसे भंगी जाति का आदमी बना देते हैं। यदि अपनी आजीविका के लिए कोई आफिस में काम करता है तो हम उसे क्लर्क कहने लगते हैं। जनतंत्रवादी समाज में पेशे के अनुसार होने वाले भेद-भाव केवल आफिस तक ही सीमित रहते हैं, बाद में सभी लोग अपने को मानव के रूप में मानते हैं और उसी प्रकार आपस में समता का व्यवहार करते हैं।

भारतवर्ष में इस प्रकार के जनतंत्रवाद की अभी स्थापना नहीं हुई है। अभी तक राजनैतिक क्षेत्र में भी पूरा जनतंत्रवाद क्रियाशील नहीं हुआ है। भारतवर्ष के अशिक्षित लोगों के लिये तो वर्तमान राजनीतिक परिवर्तन केवल मालिकों का परिवर्तन हुआ है। अशिक्षित जनता जिस प्रकार पहले अंग्रेजो को अपना महाप्रभु मानती थी, उसी प्रकार आज राजमन्त्रियों को अपना स्वामी मानने लगी है। फिर आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में तो जनतंत्रवाद बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में है। आज कोई माता-पिता अपने पुत्र को समानता का अधिकार नहीं देना चाहते, मालिक मजदूर को अधिकार नहीं देना चाहता, आफिसर मातहतों को अपने समान ही आदमी मानने को तैयार नहीं है, परन्तु अब संसार में जनतंत्रवाद का वातावरण फैल चुका है और पुरानी मनोवृत्ति के लोग कभी सुख से नहीं जी सकेंगे। प्रत्येक शिक्षक का यह कर्तव्य है कि राष्ट्र के नर-नारियों की, राष्ट्र के होनहार नागरिकों की मनोवृत्ति इस प्रकार तैयार करें कि वे सच्चे जनतंत्रवाद को देश में चरितार्थ होते हुए देख सके और उसमें अपना जीवन सुख से बितावें।

—आर० आर० कुमारिया

मानव जीवन के मूल्य

मानव जीवन के मूल्य स्वयं मनुष्य के मन से निर्मित होते हैं। मनुष्य किसी वस्तु की चाह करता है और जब वह उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है तो उसे चाही हुई वस्तु में मूल्य का दर्शन होता है। यह अपने प्रयत्न का ही परिणाम है कि हम एक वस्तु में मूल्य देखते हैं और दूसरे में नहीं। जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए हमें जितना ही परिश्रम करना पड़ता है, उसका हमारे लिए उतना ही मूल्य भी होता है। उसके खो जाने में हमें कम कष्ट नहीं होता।

मनुष्य के मूल्य उसके विचार एवं उसकी कल्पना के कार्यों के परिणाम हैं। पशुओं में न तो विचार करने की और न तो कल्पना करने की ही शक्ति रहती है। अतएव उनके जीवन में मूल्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। पशु वाह्य परिस्थिति एवं आन्तरिक प्रकृति का दास होता है। वह परिस्थितियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। वह अपनी स्वतः की प्रकृति को न तो जानता है और न उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा ही करता है। मनुष्य न केवल वाह्य प्रकृति पर, वरन् अपनी आन्तरिक प्रकृति पर भी अर्थात् अपनी मूल प्रवृतियों पर भी विजय प्राप्त करने की कोशिश करता है। वास्तव में वाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करना और आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करना एक ही तथ्य के दो रूप हैं। वही मनुष्य वाह्यजगत में भी अपनी क्रियाओं में सफल होता है जिसने अपनी मूल प्रवृत्तियों को और अपने आवेगों को अपनेमें वशीभूत रखने का प्रयास किया है। इसी प्रकार जो व्यक्ति आन्तरिक जगत में सफल होने की कामना रखते हैं अर्थात् जो अपने काम, क्रोध, लोभादि मनोभावों को वश में रखना चाहते हैं, उन्हें संसार के नये-नये कामों में अपने आपको लगाये रखना नितान्त आवश्यक होता है। मनुष्य के सामने वाह्य जगत का कार्य जितना ही कठिन होता है, उसकी आत्म-नियंत्रण की शक्ति में उतना ही अधिक विकास होता है। संसार के महान पुरुष सदा ऐसे व्यक्ति रहे हैं जिन्होंने असाधारण पुरुषार्थ दिखाकर अपने जीवन में ऐसे काम किये जो दूसरे लोगों के लिए असम्भव प्रतीत होते थे। इन महान् पुरुषों की महानता इन बड़े कामों के करने में नहीं है, वरन् उन कामों के करने के लिए जो मानसिक शक्ति के संचय की आवश्यकता होती है, उसके संचित करने में है। किसी महान पुरुष का बाहरी कार्य एक ओर उसकी आध्यात्मिक साधना का अंग है तथा दूसरी ओर वह उसकी आन्तरिक महानता को व्यक्त करता है।

भगवान कृष्ण, अर्जुन, रामचन्द्र, शिवाजी, लोकमान्य तिलक एवं सुभाषचन्द्रबोस ने अपने सामने ऐसे कार्य को पूरा करने का कार्यक्रम बनाया था जो साधारण पुरुषों के लिए असम्भव थे। जिस व्यक्ति को पद-पद पर मृत्यु का सामना करना पड़ता है, वही ऐसी आध्यात्मिकशक्ति का संचय करता है जिससे न केवल अपने आपका वरन् पूरे मानव समाज का लाभ होता है। जब किसी मनुष्य के सामने बड़ा ही जटिल काम नहीं होता, तो उसे चरित्र के उन गुणों की भी आवश्जकता नहीं होती जो बड़े काम करने के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो भारतवर्ष की स्वतन्त्रता प्राप्ति राष्ट्र के नवयुवकों के लिए वरदान न बनकर अभिशाप ही बनी है। अंग्रेजों ने जितनी उदारता भारतवर्ष को स्वतन्त्रता देने में की उतनी ही राष्ट्र के नवयुवकों की चारित्रिक क्षति हुई। नवयुवक सदा किसी असम्भव कार्य के लिए तत्पर रहता है। जब ऐसा कोई कार्य उसके समक्ष नहीं रहता और जब उसके सामने धन कमाने, विद्योपार्जन करने अथवा पद प्राप्त करने भर के कार्यक्रम रह जाते हैं, तब उसकी तेजस्विता का ह्रास शुरू हो जाता है। जब मानवशक्ति पुरोगामी नहीं होती है, तो वह अपने आप ही प्रतिगामी बन जाती है।

आज भारतवर्ष में नवयुवकों में मानसिक रोगों की संख्या बढ़ रही है। रूस में इन रोगों की संख्या बिलकुल कम है। १६३० के पूर्व जर्मनी की अवस्था वही थी जो आज भारत की है। जब हिटलर ने राष्ट्र के नवयुवकों के सामने एक साधारण पुरुषार्थ की योजना रख दी तो सभी मानसिक रोग सरलता से समाप्त हो गये तथा मानसिक चिकित्सकों का व्यवसाय ही बन्द हो गया।

आज हमारे सामने कितने ही नवयुवक अकेले रहने का भय, साँप-छुछुन्दर का भय, गन्दगी का भय, हृदय की धड़कन, कोष्ठबद्धता, दमा, अकारण चिन्ता, बाह्य - विचारों अथवा नेत्ररोग से पीड़ित होकर आते हैं। ये सभी प्रकार के रोग जीवन में ठोस कार्यक्रम के अभाव में उत्पन्न होते हैं। जब किसी व्यक्ति की लगन किसी मूल्यवान रचनात्मक कार्यक्रम में नहीं रहती तो वह अपने अतीत काम की छोटी छोटी भूलों पर भावात्मक चिन्तन करता है तथा इस प्रकार अपने जीवन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों को उत्पन्न कर लेता है। जिस व्यक्ति की कल्पना कुंठित हो गई है और जो अतीत में रमण करता है वह या तो समय के पूर्व वृद्ध हो जाता है अथवा मानसिक रोगी है।

मनुष्य के जीवन के मूल्यों में विकास धीरे-धीरे होता है। पहिले उसकी आकांक्षाएँ देहिक सुख सम्बन्धी होती हैं। जब मनुष्य इन इच्छाओं को तृप्त

करने का काफी प्रयत्न कर लेता है और जब उसे दैहिक सुख से असन्तोष हो जाता है, अर्थात् उसको इस सुख की कमी का ज्ञान हो जाता है तब वह अपना अधिक समय दूसरों के सुखों की पूर्ति में खर्च करता है। उसे जो अपने खाने में आनन्द नहीं मिलता वह आनन्द दूसरों को खिलाने में मिलता है। वह व्यक्तिगत जीवन की चिंताओं से चिंतित न होकर दूसरों की चिन्ताओं से चिंतित होता है। संसार का सर्वोत्तम पुरुष वह है, जो सब समय अपने आपको काम में लगाए रखे। परन्तु इनकी व्यक्तिगत इच्छाएँ कुछ भी नहीं होतीं। किसी भी समाज के सुसंगठित बने रहने के लिए और उसके उत्थान के लिए कृष्ण जैसे कर्मयोगियों की सदा आवश्यकता रहती है।

भारतवर्ष में क्रियात्मक जीवन को वैसी ऊँची दृष्टि से नहीं देखा जाता जैसा उसे पश्चिम के सभ्य देशों में देखा जाता है। हम अधिकतर अन्तर्दर्शन और चित्तवृतियों का नियंत्रण करने में लगे रहते हैं। परन्तु इस प्रकार हम अपनी मानसिक शक्ति का शोध नहीं कर पाते। जो मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को समाजोपयोगी कार्य में खर्च नहीं करता वह कभी-कभी इच्छा के प्रतिकूल ही कुछ दुष्कार्य कर बैठता है और फिर वह अनेक प्रकार से अपनी आत्मभर्त्सना करता है। अतएव समाजोपयोगी किसी भी कार्य में अपने आपको सदा लगाये रखना, अपनी मानसिक शक्ति को सुरक्षित रखने का और उसे बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय है। काम जितना ही कठिन हो, उतना ही वह चरित्र के गुणों का विकास करता है। जो मनुष्य कठिन परिश्रम करके अपने आपकी उन्नति करते हैं, वे भी समाज की मौलिक सेवा करते हैं। उनके उदाहरण से दूसरे लोग प्रोत्साहित होकर अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा करते हैं। और इस प्रकार अनुकरण की प्रवृति के द्वारा पूरे समाज का लाभ होता है।

———

दमित स्मृति के जागरण से रोग की समाप्ति

मेगडूगल ने अपनी 'एबनार्मल साइकालाजी' में एक ऐसे रोगी का वर्णन किया है जो सदा डरा करता था कि पीछे से कोई उसे पकड़ लेगा। वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। उसकी उमर ५० साल की हो गई थी। यह भय उसे निरर्थक दिखाई देता था परन्तु वह उसे रोक नहीं पाता था। यदि उसे किसी सभा में जाना हो तो वह ऐसे स्थान पर बैठता जहाँ उसके पीछे दीवार हो, ताकि किसी के पीछे से आने का भय न रहे। एक दिन यही व्यक्ति अपने बचपन के गाँव में गया। वहाँ उसका बड़ा स्वागत किया गया। वह गाँव के विभिन्न लोगों के पास उनके घर पर भेंट करने गया। इसी बीच वह एक बूढ़े बनिये की दुकान पर पहुँचा। उसने उससे अनेक प्रकार की कुशल पूछी। बात बात में उसने मुसकराते हुए यह भी कह दिया कि क्या अब तुमने बोरों में से अखरोट की चोरी करना छोड़ दिया। इस बात को सुनते ही उसका चेहरा लाल पड़ गया। उसको बचपन की वे सभी बातें याद आ गईं जो अखरोट की चोरी के साथ सम्बन्धित थीं। शर्म के मारे उसका चेहरा नीचा हो गया। परन्तु एक क्षण में ही उसका रोग समाप्त हो गया।

जब यह व्यक्ति १० साल का लड़का था तो वह अपने घर से आकर गाँव के इस बनिये के यहाँ से अखरोट चुरा ले गया था। ये ऐसी जगह पर रखे थे जहाँ उन्हें कोई सब समय देखता न था। एक रोज इस बनिये ने उस बालक की चेष्टायें देखकर उसकी नियत पर सन्देह किया और वह इस ताक में रहा कि जब वह लड़का कोई चीज उठाकर ले जाने लगेगा उसी समय उसे पकड़ा जावेगा। अतएव ज्योंही लड़का बोरे से मुट्ठी भर अखरोट लेकर चला, झट बनिये ने उसके कुर्ते की कालर पीछे से पकड़ ली। अब क्या था शरीर काटो तो खून नहीं, यह दशा उस लड़के की हो गई। वह प्रतिष्ठित घर का बालक तो था ही, उसे डर लगा कि उसकी चोरी की बात सभी लोग जान लेंगे और इससे उसका जीवन ही भार रूप हो जावेगा। बनिये ने उसे छोड़ दिया और इस घटना की बात किसी से नहीं कही। परन्तु लड़के के मन पर तो लज्जा और ग्लानि युक्त घटना के संस्कार बन ही चुके थे। इनके परिणाम स्वरूप एक ओर उसने अपने आप को समाज में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया और एक बड़े सच्चे नागरिक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और दूसरी ओर उसे अकारण भय के रूप में पुराने कृत्य का भुगतान करना पड़ा। जब इस व्यक्ति को पुरानी दमित स्मृति याद आ गई तो उसका रोग समाप्त हो गया।

अभी हाल की बात है हमारे यहाँ आने वाले रोगी को कान में सनसनाहट होती रहती थी। इस सनसनाहट के कारण उसका मन सदा उदास रहता था। इधर उसे प्रमेह का रोग भी है जिसकी बहुत सी चिकित्सा कराई, पर रोग न गया! वह अभी अपने जीवन की भावात्मक घटनाएँ लिख रहा था। उसने कामवासना सम्बन्धी भी अनेक बातें लिखीं। ज्योंही उसने यह बात लिखी कि उसने अपनी वासना की तृप्ति के लिए एक बार पशु से भी मैथुन किया उसके एक कान की सनसनाहट एकाएक जाती रही।

लेखक के एक शिष्य को अपनी परीक्षा के समय घड़ी (टाइम पीस) की टकटकाहट पढ़ने में विघ्न डालने लगी। इससे परेशान होकर उसने घड़ी को बाजू के कमरे में रखा। परन्तु इससे दिल की घबड़ाहट और भी बढ़ गयी। वह घड़ी के बिना भी नहीं पढ़ सकता था और घड़ी उसे पढ़ने भी नहीं देती थी। यह व्यक्ति मनोविज्ञान का प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी हैं। वह जानता है कि ये परेशान करने वाली वस्तु किसी दूसरी बातों का प्रतीक होती हैं। अतएव वह ऐसी बात को सोचने लगा जिसका प्रतीक घड़ी की टकटकाहट हो सकती है। कई दिनों तक कुछ भी ध्यान में न आया। एक रोज मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में उसे ध्यान आया कि एक बार जब वह अपनी स्त्री के पास सोया था और उससे काम-सम्बन्ध करना चाहता था तो पास में कोई लड़की जाग गई थी और वह रोने लगी थी। उससे उसे बड़ा क्षोभ हुआ। उसने उस लड़की को अपनी माँ के पास बाजू के कमरे में छोड़ दिया। परन्तु उसकी आत्मा फिर उसे कोसने लगी। इस प्रकार वह रात्रि अशान्ति ही में व्यतीत हुई। उसे समझ में आया कि घड़ी का शोर मचाना लड़की के शोर मचाने का प्रतीक है और उसका पढ़ना भोग क्रिया का। घड़ी के कमरा बदलने से उसे इस लिये ही परेशानी होती थी कि यह प्रतीक रूप से उस आत्मग्लानि को जाग्रत करती जो रोती हुई लड़की को एक कमरे से दूसरे में ले जाने के कारण उसे हुई थी। ज्योंहीं यह पुरानी घटना रोगी को याद आई उसकी परेशानी एकाएक नष्ट हो गई।

इसी युवक का एक दूसरा और अनुभव उल्लेखनीय है। गत वर्ष होली के समय यह अपने देहात के घर गया था। वहाँ पहुँचने पर जब सब लोग अपने मनोरंजन में लगे हुए थे उस समय इसे एकाएक पटाके की आवाज परेशान करने लगी। जब पटाके की कोई आवाज होती तो उसे मालूम होता था कि कोई व्यक्ति उसके हृदय पर एक भारी घन पटक रहा है। इस आवाज के भय के मारे वह अपना घर छोड़कर एक मील दूर गंगा के किनारे सवेरे

ही उठकर चला जाता और रात होने पर वापस आता। उसे मालूम होता था कि इन पटाकों की आवाज से उसके दिल की गति ही रुक जायगी। इधर घर के लोग उसको इधर-उधर खोजते रहते थे। खुशी के समय अपने प्रिय पुत्र को कौन देखना नहीं चाहेगा। अभी रंग छोड़ने का दिन नहीं आया था। इसके आगमन को सोचकर उसे और भी परेशानी होती थी। अन्त में उसने सोचा कि अब तो मृत्यु नजदीक ही है अतएव अपने गुरु के पास ही जाकर मरना उचित है। संभव है वे बचा लें। इस विचार को लेकर वह मनोविज्ञानशाला की ओर काशी के लिये चला। रास्ते में वह सोचता जाता था कि पटाके की आवाज से इतनी परेशानी का कारण आखिर हो ही क्या सकता है। उसे ज्ञात था कि ऐसे रोगों का कारण प्रायः कामवासना के क्षेत्र में ही होता है। अतएव उसने अपने उन सभी काम अनुभवों को सोच डाला जिनके कारण उसे कभी आत्म-ग्लानि हुई थी। सोचते-सोचते उसे पता चला कि जब वह एक बार अपनी किशोरावस्था में अपनी भाभी के पास सटकर सोया हुआ था तो उसे कामवासना जाग्रत हो गई थी। भाभी भी उस समय कामोत्तेजित हो गई थी। इस बालक को किसी प्रकार के काम-कृत्य के पूर्व ही वीर्यपात हो गया। फिर उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। बालक की नैतिक बुद्धि प्रबल तो थी ही अब वह अपनी आत्मभर्त्सना करने लगा। इसके बाद उसने भाभी के पास सोना तो दूर रहा उससे बोलना तक छोड़ दिया था। उसे एकाएक ज्ञात हुआ कि पटाका जननेन्द्रिय का प्रतीक है और उसको छोड़ना वीर्यस्खलन का। वास्तव में होली के अवसर पर विवाह के समय लोग अनजाने पटाके और बन्दूक इसलिये ही छोड़ते हैं कि इनसे उनकी कामवासना की प्रतीक रूप से वृद्धि होती है।

साधारण लोगों के मन में इतना अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता कि कामक्रिया के प्रतीकों से भी उन्हें भय हो; परन्तु जिस व्यक्ति में वासना का दमन अत्यधिक होता है वे न केवल वासना के सीधे प्रकाशन से घबड़ाते हैं वरन् उनके प्रतीकों से भी उन्हें घबड़ाहट होती है। इसी अन्तर्द्वन्द्व के कारण बहुतसे आदर्शवान युवकों में मानसिक नपुंसकता भी आ जाती है। यदि रतिक्रिया के प्रथम अनुभव के बाद किसी व्यक्ति को आनन्द का अनुभव हुआ तो इस क्रिया के सभी प्रतीक उस व्यक्ति की प्रसन्नता बढ़ाते हैं और यदि इस क्रिया के बाद किसी व्यक्ति को आत्मग्लानि का अनुभव हुआ तो वह व्यक्ति कामवासना को तथा उसके प्रतीकों को शत्रु के रूप में देखने लगता है। ऐसा व्यक्ति एक ओर बड़ा ही आदर्शवादी बन जाता है और दूसरी ओर वह किसी

शारीरिक अथवा मानसिक रोग का शिकार हो जाता है। वासना के प्रतीकों से डरने लग जाना मानसिक रोग है।

जो उक्त नवयुवक को ऊपर बताई घटना और पटाके की आवाज का उससे सम्बन्ध ज्ञात हुआ तो उसका रोग एकाएक जाता रहा। फिर वह बड़े आनंद के साथ मनोविज्ञानशाला में केवल अपने पुराने अनुभव को कहने आया। वह यहाँ आकर, रोकर अपनी कृतज्ञता प्रगट करने लगा कि अपने गुरु के ध्यानमात्र से उसकी जान बच गई। वास्तव में जब वह घर से चला था तो उसकी मनोदशा विलक्षण ही थी और यहाँ आने पर दूसरी ही हो गई। उक्त घटना के स्मरण होने के पश्चात् बनारस में चलनेवाले बड़े-बड़े पटाकों की आवाज ने भी उसे कुछ भी परेशान नहीं किया। इस प्रकार दमित स्मृति के चेतना के स्तर पर आते ही रोग की समाप्ति हो जाती है।

एक दूसरा २१ वर्ष का नवयुवक नपुंसकता के रोग से परेशान होकर आज से छः महीना पहले हमारे पास आया। वह विवाहित था; परन्तु अपनी स्त्री के पास जाने से बहुत ही डरता था। वह जब कभी स्त्री के पास जाता तो उसे कामोत्तेजना ही न होती। इस व्यक्ति को बचपन में उसके माता-पिता ने बड़े कठोर नियन्त्रण में रखा था। वे कभी भी बालक को अकेले घर के बाहर जाने नहीं देते थे। जब यह किशोर अवस्था में आया तो वह अपने संगी-साथियों के साथ बाहर खेलने जाता था। परन्तु उसे पिता का बड़ा डर रहता था। एक बार उसे साथियों के साथ खेलते-खेलते देर हो गई। उसके पिता ने उसे उस दिन इतना पीटा कि अधमरा कर दिया। इस प्रकार उसकी नैतिक बुद्धि अपने ही कामों के प्रति बड़ी प्रबल हो गई। विशेष कर वह हँसी-मजाक तथा कामवासना सम्बन्धी बातों को बहुत बुरा समझने लगा।

जब इस व्यक्ति की उमर और अधिक हो गई तो उसके एक मित्र ने उसे हस्तमैथुन की आदत में डाल दिया। फिर उसी मित्र ने इसे स्नेहवस उसकी स्त्री के पास सोने के लिये कहा। उसने उसे १० बजे रात को अपने घर बुलाया। स्त्री को पहले से ही बता दिया गया था। वह मित्र के आदेशानुसार उस नववधू के पास लेटा। उस समय उसे कामोत्तेना इतनी प्रबल हुई कि बिना किसी प्रकार की क्रिया के ही उसका वीर्यपात हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप उसे बड़ी ही आत्मग्लानि हुई। वह अपने इस अनैतिक आचरण के लिये अपने आपको बहुत ही कोसने लगा। फिर यह सारी घटना भुला दी गई। उसने अपने आपको कामवासना सम्बन्धी सभी बातों से बिलकुल दूर रखा। वह अपना विवाह भी नहीं करना चाहता था। परन्तु अपनी मरजी के प्रतिकूल

उसके पिता ने उसका विवाह कर दिया। जब स्त्री घर में आई तो उसने देखा कि वह काम-क्रिया के सर्वथा अयोग्य है। इसके लिये उसे बड़ी आत्म-ग्लानि होती थी। उसने आत्म-हत्या करने की ठान ली। उसे स्वप्नदोष होते थे, परन्तु विना स्वप्न को समझे ही उसने अपनी कई प्रकार की चिकित्सा कराई, परंतु इससे कोई लाभ न हुआ। वैद्यों ने तो बता दिया कि तुम्हारे पुराने काम-कृत्यों का परिणाम है। हस्तमैथुन से नपुंसकता आही जाती है। एक डाक्टर ने अवश्य उसे प्रोत्साहित किया और उसे बताया कि उसका रोग केवल मानसिक है। उसे किसी प्रकार की शारीरिक नपुंसकता नहीं है। जब उसके मन में बैठ गया कि उसका रोग शारीरिक न होकर मानसिक है तो वह मनोवैज्ञानिक उपचार की खोज करने लगा और इसी मनोस्थिति में वह हमारे पास आया।

काशी मनोविज्ञानशाला में आये रोगियों से पहले स्नेह का बर्ताव किया जाता है। उन्हें कुछ उसी प्रकार के रोग से मुक्ति पानेवाले व्यक्तियों की आत्म-स्वीकृति की गाथायें पढ़ने को दी जाती है। उन्हें अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता है। फिर उन्हें अपनी उन बातों को स्मरण करने के लिये कहा जाता है, जिनमें रोग का कारण होने की संभावना उन्हें दिखाई देती है। ऐसी बातों को वे लिख डालते हैं अथवा वे उन्हें मुँह से ही कहते हैं। जब सीधे ऐसी घटनायें याद नहीं आती तो आनापानसति और मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया जाता है, तथा स्वप्न लिखने के लिये कहा जाता है। यह करते करते वह भावात्मक घटना रोगी को याद आ जाती है, जो रोग का कारण होती है और इस घटना के स्मरण होते ही रोग नष्ट हो जाता है। इस युवक के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। ज्योही अपने मित्र की स्त्री के साथ होने-वाली घटना उसे याद आई कि उसकी नपुंसकता का अन्त हो गया। वास्तव में इस व्यक्ति को कामोत्तेजना से ही भय हो गया था। जब वह ऐसी स्थिति में आता था, जब उसे कामोत्तेजना हो सकती है, तभी उसे एक अकारण भय हो जाता था। यह भय आत्मग्लानि का प्रतीक था। यही भय रोगी को नपुंसक कर देता था। जब रोग का कारण मानसिक होता है तो शारीरिक उपचार से वह कम न होकर और भी बढ़ जाता है।

जीवन के उलझन

मानव जीवन उलझनों से भरा हुआ है। उसकी समस्यायें अनन्त हैं। मनुष्य की अबोध अवस्थाओं में ये उलझने अथवा समस्यायें दिखाई नहीं पड़ती हैं। परन्तु प्रकृति मनुष्य को अबोध नहीं रहने देती। वह अनेक प्रकार की टक्करे लगा कर मनुष्य का उसके जीवन की समस्याओं और उलझनों से परिचय कराती है।

मनुष्य की कुछ उलझने उसके व्यक्तिगत जीवन से संबन्ध रखती हैं, कुछ पारिवारिक होती हैं और कुछ सामाजिक। कितने हीं लोग दार्शनिक झंझटों में फँसे रहते हैं और कितने ही अपने स्वार्थ सम्बन्धी झंझटों में। मनुष्य जब अपनी एक उलझन को सुलझाने की चेष्टा करता है, तो दूसरी उलझनें उसके सामने आने लगती हैं। जब हम उलझनों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं तो हम उनकी जड़ मनुष्य के व्यक्तित्व में ही पाते हैं। उलझे हुए व्यक्तित्व का व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में काम करेगा वह उस क्षेत्र में उलझनों को ही देखेगा। वास्तव में जितनी उलझनें पहले से उस क्षेत्र में रहती हैं उनसे अधिक वह उन उलजनों को सुलझाने के प्रयास से पैदा कर लेता है। जिस मनुष्य का मन जटिल मानसिक ग्रन्थियों से भरा है वह इन ग्रंथियों का आरोपण अपने कार्य-क्षेत्र में करता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर मन में विभाजित है, जिसके भीतरी मन में देवासुर संग्राम सदा चलते रहते हैं, वह अपने पारिवारिक जीवन में ऐसी समस्यायें उत्पन्न कर लेता है जिन्हें सुलझाना उसके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। यदि वह राजनीतिक नेता है तो राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी उलझनें पैदा करता है जिन्हें वह शक्ति भर प्रयास करने पर भी सुलझा नहीं पाता। वास्तव में ये बाहरी उलझनें उसके भीतरी मन की उलझनों के आरोपण मात्र हैं।

हाल की बात है कि लेखक के पास एक ऐसा युवक आया जिसे अपने बड़े भाई, अपने माता-पिता तथा घर के सभी लोगों से द्वेष इस कारण हो गया था कि उसके मन में यह विचार आ गया था कि वे सभी उसके चरित्र पर संदेह करते हैं और उसे चरित्र हीन समझते हैं। उसके बड़े भाई ने एक बार उसके संबन्ध में उसकी माँ से कुछ ऐसी बातें कहीं, जिससे उसके चरित्र पर कुछ दोष लगता था। इन बातों को इस युवक ने बड़े भाई के अनजाने सुन ली थी। अब उसका निश्चय हो गया कि घर के सभी लोग उसे चरित्र हीन ही

मानते हैं। यह युवक बड़ा ही संयमी है और सब प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी बड़ा कठोर जीवन व्यतीत कर रहा है। उसकी अपनी भावना थी कि उसका जीवन बड़ा ही पवित्र है और उसके बड़े भाई ने उसके विरुद्ध बुरा प्रचार कर रक्खा है। उसने घर के सभी लोगों से बोलना-चालना बन्द कर दिया। उसका दिन-प्रति-दिन स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। इसके कारण उसके माता-पिता को बड़ी चिन्ता हुई। पिता भी लेखक के पास अपने पुत्र की मानसिक स्थिति सुधारने के लिए परामर्श लेने आए। वे बहुत परेशान थे।

लेखक ने देखा परिवार का प्रत्येक व्यक्ति बड़ी ही मानसिक जटिलता में है। प्रत्येक अपनी मानसिक ग्रन्थि को एक दूसरे पर आरोपित करता है। पिता वास्तव में अपनी ही मानसिक ग्रन्थि से परेशान था। उसके आन्तरिक मन में अपने ही प्रति आत्महीनता की भावना थी। इस भावना के कारण वह सोचने लगा कि उसका होनहार पुत्र उसका अनादर करता हैं। वास्तव में पिता को जितनी शिक्षा दी हुई है उससे कहीं अधिक पुत्र की हो चुकी है। पिता-पुत्र की हरेक बात को अवज्ञा के रूप में देखता था। इसके कारण उनका जीवन भार रूप हो रहा था। पिता अपने पुत्र के चरित्र के विषय में कोई भी शंका नहीं रखते थे। उनका कहना था कि उसकी माता भी किसी प्रकार की शंका उसके चरित्र के विषय में नही रखती है। उन्हें यदि कोई शिकायत है तो उसके बड़ों के प्रति व्यवहार के लिए।

इस युवक का मनोविश्लेषण द्वारा अध्ययन किया गया। किसी भी मानसिक रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए प्रथम अवस्था में उसके सभी मनो भावों के प्रति सहानुभूति दिखाई जाती है। उसकी वेदना-मुक्त-अनुभूतियों को सहृदयता के साथ सुना जाता है। इस प्रकार उसके दमित भावों का जब कुछ रेचन हो जाता है, तभी वह आपने आपको पहचानने की स्थिति में आता है। यदि किसी मानसिक रोगी की भावनाओं को पहले से ही निराधर बता दिया जाय तो वह चिकित्सक का ही विरोधी बन जाता है। जब यह युवक अपनी आत्मवेदना को सुना रहा था तो वह रो पड़ा। उसे बहुत कुछ समझा-बुझाकर आश्वासन दिया गया कि वह वास्तव में बड़ा ही पवित्र मन का व्यक्ति है और ईर्ष्या वस ही उसके बड़े भाई ने उसके विरुद्ध प्रचार कर दिया। इससे उसको बड़ी शान्ति मिली। उसका शारीरिक रोग कुछ कम होने लगा।

दो-तीन दिन के बाद उसने स्वप्न में देखा कि जिस युवती के प्रेम का लांछन उसके बड़े भाई ने उसपर लगाया था, वही युवती उसके स्वप्न में आई और वह उस युवती से अनेक प्रकार की प्रेम चेष्टाएँ कर रहा था। इस स्वप्न को

देख कर जागरित अवस्था में उसे बड़ा कष्ट हुआ। उसे ज्ञात हुआ कि उसका भाई जो कुछ लांछन उस पर लगता है उसमें कुछ सत्यता है। यह सत्य उसके चेतन मन को ज्ञात नहीं है। जब कोई व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के छिद्रान्वेषण से बहुत चिढ़े तो हमें समझना चाहिए कि उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में वास्तव में वह दोष है जिसके लिए उसकी आलोचना होती है। परन्तु इसका ज्ञान उसके चेतन मन को नहीं है। ज्योंही इस युवक को अपनी मानसिक परिस्थिति का ज्ञान हुआ त्योंही उसको पवित्रता का अभिमान कम हो गया। अपने परिवार के प्रति व्यवहार बदल गया। परिवार के लोग भी उसे अधिक प्यार करने लगे। इस युवक को यही सुझाव दिया गया कि जब हम किसी प्रकार की जटिलता अपने वातावरण में देखें तो वातावरण को सुधारने की चेष्टा नहीं करके स्वतः में उस जटिलता का कारण खोजने की चेष्टा करें। हमारे इसी दृष्टिकोण के कारण ही वातावरण में हमें जटिलता दिखाई देती है। और उसके सुलझाने के यत्न से वह और भी बढ़ जाती है। परन्तु किसी प्रकार की जटिलता का कारण अपने में पहचानना अत्यन्त कठिन है। अतएव हम वातावरण की उलझनों में पड़े ही रहते हैं।

कितने ही मनुष्य वातावरण में उपस्थित भौतिक गन्दगी, शोर-गुल, व्यभिचार, चोरी और घूसखोरी से बड़े ही परेशान रहते हैं। वे इन परिस्थितियों को बदलने की जब चेष्टा करने लगते हैं तो वे उत्तरोत्तर कठिन ही दिखाई देने लगती हैं। परिवार के अनेक लोगों से हमारा वैमनस्य हो जाता है। हम जैसे-जैसे इन लोगों की मनोभावनाओं को सुधारने का प्रयास करते हैं वे और भी बिगड़ती जाती हैं। यदि हम इस प्रकार के प्रयास को बन्द कर दें और अपने आप में शांति भावना का अभ्यास करें तो ये बाहरी जटिलताएँ सहज में सुलझ जाए। हमारी आन्तरिक अशान्ति ही बाहरी अशान्ति बन जाती है। यदि हम आत्म-विजय से निराश हो चुके हैं तो बाहरी वातावरण में भी हम निराशा देखने लगते हैं। जैसे-जैसे हम आत्म-विजय में आत्मविश्वास का अनुभव करने लगते हैं हम देखते हैं कि वातावरण भी हमारे अनुकूल हो गया है। वातावरण के प्रति उदासीनता का भाव इस तरह उसकी ग्रंथियों को सुलझाने में सहायक होता है।

दार्शनिक दृष्टि से बाहरी तथा आन्तरिक जगत एक दूसरे के सापेक्ष हैं। यदि एक में सुधार हो जाए तो दूसरे में सुधार होना भी अनिवार्य है। परन्तु बाहरी परिस्थितियों पर जितना हमारा अधिकार है उससे अधिक अधिकार हमारी आन्तरिक परिस्थितियों पर ही हो सकता है। यदि हम बाहरी परिस्थि-

तियों को बदलना चाहते हैं तो आन्तरिक परिस्थितियों को बदलना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार अपने मन को समझना और बदलना राजयोग कहलाता है। इसके लिए परिस्थितियों से थोड़े समय के लिए हटना और अपने आप में डूबना नितान्त आवश्यक है। परन्तु इस अभ्यास को विरला ही व्यक्ति कर सकता है। बिरले ही व्यक्ति में आत्मविश्लेषण और आत्म-स्वीकृति की क्षमता होती है। जिस मनुष्य की मानसिक जटिलताएँ जितनी अधिक होती हैं, उसमें प्रायः आत्मविश्लेषण एवं आत्मनिरीक्षण की उतनी ही कम क्षमता होती है। इनका अहंकार उन्हें अन्तर्मुखी बनने ही नहीं देता। संसार के प्रसिद्ध साधु महात्मा और सन्त लोग प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। उनकी लौकिक प्रसिद्धि उन्हें अपनी कमजोरियों के प्रति अन्धा बना लेती हैं। इस लिए ही लौकिक प्रसिद्धि को आध्यात्मवाद का शत्रु माना गया है। जो लोग दूसरों को सदाचार की, त्याग की और आत्मविश्लेषण की शिक्षा जितनी अधिक देते रहते हैं, उनमें अन्तर्मुखी बनने की उतनी ही कम क्षमता रहती है।

संसार का सामान्य मनुष्य अन्तर्मंत की क्षमता नहीं रखता। अतएव वह परिस्थिति से लड़-झगड़ कर ही अपने आपके विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकता है। निकम्मे बैठने की अपेक्षा कुछ-न-कुछ करते रहना अच्छा है। योगी पुरुष यह जानकर समाज में काम करते हैं कि उनके समाज-सुधार का अन्तिम लक्ष्य समाज सुधार नहीं है वरन् आत्मसुधार है। समाज सुधार का कार्य साधनमात्र है। जो अहंकार छोड़कर सामाजिक सेवा द्वारा आत्मसुधार की चेष्टा करता है, वह समाज का वास्तव में मौलिक लाभ करता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी समाज सेवा का अभिमान नहीं होता। ऐसा ही व्यक्ति कर्मयोगी कहलाता है। कर्मयोगी बाहरी फल की इच्छा को छोड़कर सुधार के लिए ही सामाजिक कार्य करता है। इसी प्रकार के कर्म की शिक्षा भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दी थी।

मनोविज्ञान और विश्व-शांति

आधुनिक काल में विश्व-शान्ति की अनेक योजनायें बनाई जा रही है। अमेरिका, इङ्गलैंड और रूस विश्व-शान्ति के लिये एटम बम् और हाइड्रोजन बम् परीक्षण कर रहे हैं। एक अंग्रेज राजनैतिक नेता का कहना है कि विश्व-शान्ति का सर्वोत्तम उपाय अंग्रेजों के पास अधिक-से-अधिक एटम बम् की उपस्थिति है। इधर भारतवर्ष पंचशील का आन्दोलन करके विश्व-शान्ति स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है। इस आन्दोलन में उसे उन सभी राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त है, जिनके पास सैनिक शक्ति की कमी है अथवा जिनके पास न तो एटम बम् वगैरह हैं और न जिन्हें इन अस्त्रों के मिलने की आशा ही है। अमेरिका और इंगलेंड के राजनैतिक इस प्रयास को उपहास की दृष्टि से ही देखते हैं। हम इन्हीं से ही अधिक-से-अधिक अपनी योजनाओं के प्रति सहानुभूति की आशा करते हैं। रूस और चीन पंजशील के समर्थक हैं, परन्तु उनका कहना है कि जब संसार के दूसरे लोग अणुबम् का परीक्षण कर ही रहे हैं, तो आत्म-रक्षा के लिए रूस भी इस प्रकार के परीक्षण कैसे बन्द कर सकता है। यह परीक्षण युद्ध की तैयारी है।

मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य की बाहरी क्रियायें उसके आन्तरिक मनोभावों का परिणाम मात्र होती हैं। अपनी भौतिक उन्नति मात्र में लगे लोगों में उन सभी लोगों के प्रति ईर्ष्या और द्वेष के भाव अनायास उत्पन्न हो जाते हैं, जो इसी प्रकार की अपनी उन्नति चाहते हैं। धन के पीछे मनुष्य अपने सभी उदार भावों को हलाल कर डालता है। जब वह अपने हृदय को शैतान का घर बना देता है, तो फिर वह बाहर भी शैतानी काम करेगा ही। अतएव जब तक मनुष्यों में उदार भाव की वृद्धि नहीं होती और जब तक वह त्याग करना नहीं सीखता, विश्व तब तक युद्धों की समाप्ति संभव नहीं।

फिर इस प्रकार की नैतिक शिक्षा कोई कमजोर राष्ट्र अपने से प्रबल राष्ट्र को देने का अधिकारी नहीं है। शक्ति-हीन लोगों की नैतिक बातों पर शक्तिधारी लोग हँसी ही उड़ाते हैं। यह स्वाभाविक भी है। यदि मनुष्य की नैतिकता मनुष्य के मन को इतना बली नहीं बना देती कि वह भौतिक बल से सम्पन्न लोगों को अपने अधिकार में रख सके तो वह नैतिकता ही दूषित है। फिर जो लोग अपनी भौतिक उन्नति में धनी लोगों का आर्थिक सहायता के लिए मुँह ताकते हैं; उनकी बात कौन बली राष्ट्र सुनेगा। यदि कोई कंगाल

अथवा भिखारी हमें कोई नैतिक उपदेश दे, तो क्या हम उसकी बातों को महत्व देंगे ? भारतवर्ष स्वयं ही उन्हीं बातों की प्राप्ति के लिए लालायित है, जिनकी अधिकता के कारण आज विश्वयुद्ध की स्थिति संसार में वर्तमान है। हम अपने छात्रों को सांस्कृतिक विषयों की शिक्षा के लिये आज भी अमेरिका और इंगलैंड भेजते हैं और अपने कार्य में उन्हीं लोगों को प्रमुख स्थान देते हैं, जिनके पास विलायती डिगरियाँ हैं। तब हमें इन विदेशियों को नैतिक शिक्षा देने का क्या अधिकार है। भले बनने की भीख माँगने से कोई भला नहीं बनता।

वास्तव में आज भारतवर्ष में जितनी मानसिक दुर्बलता है, उतनी रूस, अमेरिका और इंगलैण्ड में नहीं है। मानसिक दुर्बलता सभी चरित्र के दुर्गुणों की जड़ होती है। निर्भीक मनुष्य ही सद्गुण का अधिकारी होता है। अतएव यदि भारतवर्ष संसार के किसी राष्ट्र को कोई भलाई सिखाना चाहता है, तो उसे अपनी कमजोरी को ध्यान में रखकर दूसरों को किसी प्रकार की शिक्षा न देकर स्वयं को सब प्रकार से बली बनाने की चेष्टा करनी चाहिये। आज यदि पाकिस्तान भारत पर काश्मीर लेने के लिए आक्रमण नहीं करता, तो इसका कारण हमारी नैतिक महानता की उसके द्वारा स्वीकृति नहीं; वरन् भारतवर्ष का सैन्य-बल है। बिना अमेरिका की सहायता के वह सैन्य-बल का सामना नहीं कर सकता।

जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति कमजोर होती है, वह बाहर के शत्रुओं पर किसी प्रकार की विजय प्राप्त नहीं कर सकता है। भीतरी शत्रुओं पर हम अपनी कमजोरी को कभी-कभी अपनी उदारता की आड़ में छिपाया करते हैं। परन्तु मनुष्य की वास्तविक कमजोरी प्रकट हो ही जाती है। सामान्य व्यक्तियों में यह अनेक प्रकार के मानसिक रोग में प्रगट होती है और राष्ट्र के जीवन में यह अकारण भय और चिन्ताओं में। जिस प्रकार व्यक्ति के जोवन में मानसिक एकीकरण से मनुष्य की इच्छाशक्ति बलवान होती है और रोग का नाश होता है, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों और शक्तियों के समन्वय से राष्ट्र बलवान होता है। ऐसे राष्ट्र में आत्म-विश्वास और आन्तरिक शान्ति रहती है। बाहरी देश भी ऐसे राष्ट्र की बातों को श्रद्धा से सुनते और उन बातों पर आचरण करते हैं। अतएव अपने आपको नैतिक और भौतिक दोनों दृष्टि से बलवान बनाना ही विश्व-शान्ति का मनोवैज्ञानिक मार्ग है।

भगवान् बुद्ध की मनोवैज्ञानिक देन

मनोविज्ञान संसार का एक बड़ा ही नवीनतम विषय समझा जाता है। परन्तु यदि हम यह कहें कि मनोविज्ञान का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव संस्कृति का इतिहास है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मानव संस्कृति मानव स्वभाव की समझ और सूझपर आधारित रहती है। अर्थात् जिस राष्ट्र के लोगों में मानव स्वभाव को समझने की जितनी शक्ति होगी, वह उतनी ही अच्छी संस्कृति का निर्माता होगा। मानव स्वभाव को समझने के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व में निहित मानसिक शक्तियों को जानना आवश्यक है और दूसरे वातावरण के सम्पर्क से उसके आघात-प्रतिघात से उनमें क्या परिवर्तन होते हैं उसे जानना भी आवश्यक है। मनुष्य के सुख-दुःख में वातावरण का महान स्थान रहता है, यह भौतिक विज्ञान सिद्ध करता है। मनोविज्ञान ठीक इसके प्रतिकूल लक्ष्य की ओर हमारी दृष्टि ले जाता है, अर्थात् मनोविज्ञान बताता है कि मनुष्य के मन की बनावट ही उसके सुख और दुःख के निर्माण में प्रधान कारण है। यह निर्णय आजके सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिकों का है। लन्दन से निकलनेवाली 'साइकोलाजी' नामक पत्रिका में यदि देखा जाय तो उसका यही निष्कर्ष निकलेगा कि मनुष्य का सुख उसके मन की बनावट पर ही निर्भर करता है।

यदि हम मनोविज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप को भली प्रकार समझें, तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि भगवान् बुद्ध संसार के सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक थे और उनकी मनोवैज्ञानिक समझ और सूझ बड़ी ही गम्भीर थी। मनोविज्ञान अनुभव और प्रयोग पर आधारित है। जिस प्रकार अन्य विज्ञान अनुभवात्मक और प्रयोगात्मक हैं, उसी प्रकार मनोविज्ञान भी अनुभवात्मक और प्रयोगात्मक है। परन्तु जहाँ दूसरे विज्ञान बाह्य निरीक्षण पर अवलम्बित है, मनोविज्ञान अन्त-निरीक्षण पर आधारित है। जिन लोगों में अन्तर्दर्शन की शक्ति नहीं रहती वे मनोवैज्ञानिक नहीं हो सकते। किसी प्रकार की मान्यताओं पर चलनेवाले लोगों में वैज्ञानिक प्रयोगों के करने का सामर्थ्य नहीं होता और अन्तर्दर्शन करना इससे भी कठिन कार्य है। अतएव संसार का विरला ही व्यक्ति मनोवैज्ञानिक होता है। रूढ़िवादिता, हठवादिता, शास्त्रवादिता मनोवैज्ञानिक सूझ से कोसों दूर हैं। जो लोग किसी वाद, मत अथवा धर्म या मजहब के दलदल में फँसे हुए हैं, उनमें मनोवैज्ञानिक समझ का उदय कैसे हो सकता है? मनोवैज्ञानिक

समझ का उदय तभी होता है, जब मनुष्य इन दलदलों से बाहर निकलकर स्वतन्त्र-चिन्तन की रोशनी में आता है।

भगवान् बुद्ध संसार के महान् स्वतन्त्र चिन्तक थे। बिना स्वतन्त्रचिंतन के मनुष्य सत्यान्वेषण नहीं कर सकता। भगवान् बुद्ध का कथन है कि किसी बात को इसलिए मत मानो कि वह संसार के बहुत पुराने ग्रन्थ में लिखी थी अथवा संसार के बहुत से लोग बहुत काल से उसे मानते आये हैं। किसी बात को इसलिए भी मत मानो कि उसे मैं कहता हूँ, परन्तु किसी बात को इसलिए मानो कि वह अपने अनुभव में सत्य उतरी है और उसके अभ्यास से अपने आपको लाभ हुआ है। उन्होंने अपने भिक्षुओं के सामने कहा कि मेरा बताया हुआ धर्म कनफूँका धर्म नहीं है। मैं तो इसे खुले हाथ सब को देता हूँ। इसे ठीक से परखो, जाँचो, अनुभव में उतारो तभी इसे ग्रहण करो, अन्यथा नहीं। इस प्रकार की विचार-प्रणाली वही व्यक्ति अपना सकता है, जिसका आत्म-विश्वास प्रबल है और जो संसार का वास्तविक कल्याण करना चाहता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र अनेक हैं। मनोविज्ञान आधुनिक काल में अधिकतर लौकिक सफलता की प्राप्ति के काम में लाया जाता है। परन्तु इस प्रकार का मनोविज्ञान गम्भीर मनोविज्ञान नहीं है। गम्भीर मनोविज्ञान मनुष्य के गम्भीरतम स्वभाव का अध्ययन करता है और उसे जानकर उस मार्ग को बताने की चेष्टा करता है जिससे मनुष्य स्थायी सुख की प्राप्ति कर सके। भगवान् बुद्ध ने ये दोनों कार्य बड़ी कुशलता से किये हैं। भगवान् बुद्ध ही संसार के ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने अन्तरमन के गहनतम स्तर को जानकर यह निश्चय किया कि मनुष्य के भीतरी मन में जगत का कारण उपस्थित है। भगवान् बुद्ध का मार-दर्शन जैसे अनुभव का चित्रण और किसी ऋषि की अनुभूति चित्रण में नहीं पाया जाता। जिस प्रकार डाक्टर फ्रायड ने आधुनिक काल में अचेतन मन का और उसके क्रिया-कलापों का आविष्कार किया, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने मार के क्रिया-कलापों का आविष्कार किया। भगवान् बुद्ध का बताया हुआ मार्ग डाक्टर फ्रायड का अचेतन मन ही है। जिस प्रकार डाक्टर फ्रायड का अचेतन मन वासनामय है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध का मार भी वासना-मय ही है।

भगवान् बुद्ध ने कई वर्षों की तपस्या के पश्चात् यह सत्य खोजा कि मनुष्य के सभी प्रकार के दुःखों का कारण इच्छा ही है। जो मनुष्य निरन्तर शान्ति की प्राप्ति चाहता है, उसे इच्छा का त्याग करना होगा। इच्छा दो प्रकार की होती है। एक ज्ञात और दूसरी अज्ञात। संसार के तपस्वी लोग ज्ञात

इच्छाओं का त्याग करते हैं परन्तु इससे उनकी इच्छा से मुक्ति नहीं होती। ज्ञात मन से तिरष्कृत इच्छा मनुष्य के अचेतन मन में पहुँच जाती है और वहाँ अपना स्थायी घर बना लेती है। इस तरह मनुष्य अपने अनजाने ही त्याग और तपस्या का ढोंगी बन जाता है। भगवान् बुद्ध ने बताया है कि मनुष्य को दो प्रकार के अतिक्रम से अपने को बचाना चाहिये। एक विलासिता का अतिक्रम और दूसरा तपस्या का। विलासिता से मनुष्य अपना संयम खो देता है और तपस्या के अतिक्रम से मनुष्य अहंकारी और आत्मप्रवंचक बन जाता है। ऐसे लोगों में दूसरों को शिक्षा देने की और सुधार की मनोवृत्ति प्रबल हो जाती है। ये लोग सदा संसार को शांति का पाठ पढ़ाते हैं, परन्तु अपने अन्तर-मन में अशान्त बने रहते हैं। इनमें आत्म-निरीक्षण की शक्ति ही नहीं रहती और न इसे आवश्यक ही समझते हैं। विलासी और तपस्वी दोनों प्रकार के लोग मनोविज्ञान के शत्रु हैं।

भगवान् बुद्ध संसार के सबसे प्रथम मानसिक चिकित्सक थे। उन्होंने मन को वश में करने के जो अनोखे उपाय बताये, वे विरले ही किसी दूसरे मनोवैज्ञानिक ने बताये हैं। डाक्टर हेडफील्ड अपनी 'साइकोलाजी एण्ड मेण्टल हेल्थ' नामक पुस्तक में बताते हैं कि 'किसी प्रकार की कुटेव, हठी विचार, अकारण चिन्ता और भय से मुक्त होने के लिए मनुष्य को प्रति दिन मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में बैठकर अपने जीवन के प्राचीन इतिहास पर निरपेक्ष रूप से दृष्टिपात करना चाहिये।' हमारे जीवन की आज की प्रत्येक भावात्मक घटना, उसके गंभीर संस्कार हमारे अचेतन मन पर छोड़ जाती हैं। ये संस्कार निष्क्रिय वस्तु नहीं हैं, वरन् सक्रिय हैं। इनका निराकरण इन्हें चेतना के स्तर पर लाये बिना नहीं होता है। जब ये संस्कार चेतना के स्तर पर आते हैं और जब हम उनका समन्वय अपनी वर्तमान मानसिक स्थिति से कर लेते हैं, तो मानसिक रोग की समाप्ति हो जाती है। भगवान् बुद्ध ने भी इस प्रक्रिया की उपयोगिता बतायी है। भगवान् बुद्ध के बताये हुए आनापानसति के अभ्यास से मानसिक शैथिलीकरण की प्राप्ति होती है और इससे अचेतन मन में उपस्थित संस्कार चेतना के स्तर पर आकर समाप्त हो जाते हैं।

मनुष्य के सभी प्रकार की चिन्ता, भय, मानसिक बेचैनी और रोगों का कारण उसकी दमित इच्छाएँ रहती हैं। नादान समझ के लोग इसके कारण इच्छाओं की तृप्ति को ही स्वास्थ्य-प्राप्ति का उपाय समझ लेते हैं। परन्तु जिस प्रकार इच्छा का दमन बुरा है, उसी प्रकार उनकी असंयत तृप्ति भी बुरी है। भगवान् बुद्ध इस तथ्य को भले प्रकार से समझ गये थे। डाक्टर फ्रायड

ने अपनी 'सिविलीजेशन एण्ड इट्स डिसेकण्टेण्ट्स' नामक पुस्तक में यह बताया है कि मनुष्य के भाग्य में दुःख-ही-दुःख है और सभ्यता के विकास के साथ दुःख की वृद्धि होती है। सभ्यता इच्छाओं को बढ़ाती है और उसके साथ-साथ समाज में झगड़े और असन्तोष भी बढ़ते हैं। किन्तु यदि इच्छा का दमन किया जाय, तो मानसिक रोग बढ़ते हैं। अतएव मनुष्य के जीवन में सुख-शान्ति का होना असम्भव है। मानव-जीवन के विषय में इसी प्रकार का निराशात्मक निर्णय जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहावर का भी है। भगवान् बुद्ध ने अपनी खोजों का प्रारम्भ निराशावाद से किया। परन्तु उनकी खोजों का अन्त आनन्दवाद में हुआ। मनुष्य यदि यत्न करे तो अपनी सभी प्रकार की वासनाओं से चाहे वह चेतन हों अथवा अचेतन, मुक्त हो सकता है। वह निर्वाण अथवा इच्छारहित अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिये उसे किसी देवी-देवता अथवा धर्मगुरु की आराधना और अर्चना की जरूरत नहीं है; वरन् स्वतः के पुरुषार्थ की आवश्यकता है। भगवान् बुद्ध ने इसके लिए अष्टांगिक मार्ग बताया है।

आज संसार की सबसे बड़ी आवश्यकता आत्मनियन्त्रण की है। जैसे-जैसे विज्ञान के आविष्कार बढ़ते जाते हैं और सभ्यता का विकास होता जाता है, तैसे-तैसे तृष्णा की भी वृद्धि होती जाती है। तृष्णा का नाश आत्मज्ञान और साधना के द्वारा ही सम्भव है। जो लोग तृष्णा के विनाश के लिए उसके दमन का पाठ पढ़ाते हैं, वे भी अबोध जनता को उसी प्रकार विनाशोन्मुख बना रहे हैं; जिस प्रकार तृष्णा को बढ़ानेवाले और प्रश्रय देनेवाले लोग ध्वंस की ओर ले जा रहे हैं। दूसरे प्रकार के दर्शन से यदि मानवसमाज में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ और विध्वंसकारी कार्य होते हैं, तो पहले प्रकार के अभ्यास से मनुष्य तमोगुणी, डरपोक और परिस्थितियों का अर्थात् बलवान् लोगों का दास बन जाता है। दोनों प्रकार के अतिक्रम से मुक्त होने की सलाह भगवान् बुद्ध ने मानवमात्र को दी है।

आज हम भारतवर्ष में इच्छात्याग और तपस्या के सिद्धान्त से विमोहित हो रहे हैं। किसी प्रकार का त्याग मनुष्य समय के पूर्व नहीं कर सकता। समय के पूर्व किया गया त्याग मनुष्य को पुरोगामी न बनाकर प्रतिगामी बनाता है। भगवान् बुद्ध ने अपने मध्यम मार्ग में इसको भली प्रकार से समझाया है। उनका कथन है कि यदि कोई भिक्षु अपने अन्तर्दर्शन से इस निर्णय पर आये कि समय से पूर्व संसार को उसने छोड़ दिया है, तो उसे फिर से गार्हस्थ-जीवन स्वीकार करके संसार का आवश्यक अनुभव प्राप्त करने के पीछे भिक्षु बनना

चाहिये। इस प्रकार की उदारता किसी मनोवैज्ञानिक में ही हो सकती है।

भगवान् बुद्ध ने अपनी उपासनाओं के सदुपयोग के लिए समाजसेवा का मार्ग प्रदर्शित किया है। वासनाओं की जो शक्ति दमन के कारण व्यक्तित्व का विच्छेद तथा अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न करती हैं, वही शक्ति समाज-सेवा से उदात्त होकर संसार के प्राणियों को अनेक प्रकार की भलाई कर सकती है। यह भगवान् बुद्ध का बताया मैत्री-भावना का अभ्यास है। इस अभ्यास से एक ओर समाज में सुख-शान्ति और संघटन की वृद्धि होती है और दूसरी ओर मनुष्य के व्यक्तित्व का सुगठन होता है। उसे मानसिक एकीकरण की प्राप्ति होती है।

भगवान् बुद्ध ने ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् ४५ वर्ष तक घूम-घूमकर अपने आप-द्वारा ज्ञान का प्रसार भारतवर्ष के असंख्य लोगों में किया और अपने भिक्षुओं को आदेश दिया कि वे इस ज्ञान को बहुजनसुखाय-बहुजनहिताय संसार के अनेक लोगों को बतायें। आज संसार में ७० करोड़ जनता भगवान् बुद्ध को देव-तुल्य मान रही है; उसका कारण उनका लोगों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास था। हम जितना ही अधिक अपने चिन्तन और कार्यों से दूसरों का लाभ करते हैं उतना ही अधिक हम अपने आप का लाभ करते हैं। इस छोटे से मनोवैज्ञानिक सत्य को संसार यदि आज भी वैसा ही जान ले जैसा भगवान् बुद्ध ने जाना था, तो संसार कितना सुखी होगा, कौन कह सकता है?

—धर्मदूत से

(१२५ पृष्ठ से आगे)

पकड़े रहता है, जब तक कि उसका चेतन मन उसे हटाना चाहता है। जब रोगी का चेतन मन उसके हटाने के प्रति उदासीन हो जाता है, तो रोगी का अचेतन मन में उसे दृढ़ता से नहीं पकड़ता। फिर मनुष्य का सहज भला स्वभाव उसे रोग मुक्त कर देता है।

मनुष्य के जीवन में जो कुछ भी घटनायें होती हैं सभी उसके भले के लिये होती हैं। इस प्रकार का विश्वास जब किसी व्यक्ति के मन में दृढ़ हो जाता है, तो उसे अपने कल्याण का कोई अभ्यास ही नहीं करना पड़ता। फिर उसका कल्याण भी सभी प्रकार की घटनायें करने लगती हैं। उनके अभिशाप भी फिर वरदान बन जाते हैं। इस प्रकार केवल शान्त भावना और मैत्रीभावना का अभ्यास करने से ही मनुष्य को वही लाभ होता है जो आत्मनिर्देश द्वारा किसी विचार को भीतरी मन में डालने से होता है।

हम अपने मन को कैसे सुधारें?

मनुष्य का परम पुरुषार्थ अपने मन को सुधारना है। हम अपने मन को कैसे सुधारें? मनुष्य का बिगड़ा मन उसका शत्रु- और उसका सुधरा मन ही उसका मित्र है। बिगड़े मन का व्यक्ति दूसरे लोगों के विषय में अभद्र कल्पनायें लाता है। भगवान बुद्ध ने बताया है कि जो व्यक्ति यह सोचे कि दूसरे लोगों ने उसके प्रति अन्याय किया, उन्होंने उसकी निन्दा की, उसका धन छीना अथवा उसे धोखा दिया; वह बिगड़े मन का व्यक्ति है और जो व्यक्ति सदा सोचे कि सभी लोग भले हैं और उसकी निन्दा कोई नहीं करता और कोई उसकी हानि नहीं करना चाहता, वह भले मन का व्यक्ति है। जिस व्यक्ति की इच्छायें अनेक रहती हैं, वह किसी को भी अपना मित्र देर तक नहीं रख सकता। जब तक कोई व्यक्ति उसकी इच्छाओं की पूर्ति करता, तब तक वह उसे अपना मित्र मानेगा, जब वह उसकी इच्छाओं का विरोध करेगा, तो वह उसे शत्रु-रूप देखने लगेगा। अतएव जब तक मनुष्य इच्छाओं का त्याग नहीं करता, वह संसारिक जीवन में सफल नहीं हो सकता।

परन्तु इच्छाओं का त्याग एकाएक नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी इच्छाओं का त्याग धीरे-धीरे ही कर सकता है। बचपन में व्यक्ति को शारीरिक सुख की इच्छायें अधिक रहती है। किशोरावस्था में बालकों में रमण करने, खेलने और आत्म-प्रदर्शन सम्बन्धी इच्छायें बढ़ जाती हैं। फिर मनुष्य को परिवार की चिन्ता लगती है। धीरे-धीरे मनुष्य दूसरे के सुख में अपने सुख को देखने लगता है। अतएव मानव-जीवन का विकास व्यक्तिगत इच्छाओं के स्थान पर सामाजिक हित की इच्छाओं को जमाने में है। योगवासिष्ठ में भगवान रामचन्द्र को यही उपदेश वसिष्ठ जी ने दिया है। संसार का एकाएक त्याग करना मनुष्य को निराशावाद की ओर ले जाता है। मनुष्य को जैसे-जैसे उच्चकोटि के मूल्यों का ज्ञान होते जाता है, तैसे-तैसे उसके निम्नकोटि की इच्छायें अपने आप ही छूटती जाती हैं। मनुष्य की किसी प्रकार की इच्छायें एकाएक नहीं छूटतीं। जिन इच्छाओं की अवहेलना बरबस की जाती है, वे मनुष्य के व्यक्तित्व के शत्रु बन जाती हैं। वे मनुष्य को मानसिक रोगी बना देती हैं। निम्नकोटि की इच्छाओं को दबाये रखनेके लिए मनुष्य को अहंकार की वृद्धि करनी पड़ती है। इस प्रकार मनुष्य अपना आत्मज्ञान न बढ़ाकर ढोंगी बन

जाता है। इसी कारण से भगवान बुद्ध, अरस्तू और कृष्ण ने जीवन को सफल बनाने के लिए मध्यम-मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश दिया है।

अपने मन को सुधारने की पहली आवश्यकता अपने आन्तरिक इच्छाओं, भावनाओं और आकांक्षाओं की हैं। हमारी बहुत सी बचपन की इच्छायें पाप भावनाओं के रूप में दमित अवस्था में भीतरी मन में पड़ी हुई है। नैतिकता के प्रतिकूल होने के कारण हम उन्हें स्वीकार ही नहीं करना चाहते। इन इच्छाओं में निहित शक्ति हमारे व्यक्तित्व का अंग न बनकर उसके विरुद्ध ही कार्य करती हैं। जिन इच्छाओं का दमन किया गया है वे हमारी शत्रु हो गई हैं। यही इच्छायें हमारे मन में अभद्र कल्पकायें उत्पन्न करती हैं। भगवान बुद्ध ने निर्वाण पद की प्राप्ति के पूर्व मार-दर्शन किया। यह मार-दर्शन अपने अचेतन मन में पड़ी वासनायें ही हैं। यही भयानक रूप में अथवा प्रलोभनों के रूप में प्रगट होती हैं। मार ने एक ओर बड़े बड़े राक्षसों को भेजा और दूसरीं ओर सुन्दर युवतियों को भी भेजा। इसका अर्थ है कि भगवान बुद्ध के अचेतन मन में पड़े क्रोध के भाव शैतान और राक्षसों के रूप में व्यक्त हुए और उनके अचेतन मन में पड़ी भोग वासनायें सुन्दर स्त्रियों के रूप में प्रगट हुई। यह अनुभव उसी प्रकार का था। जिस व्यक्ति के अचेतन मन में प्रबल द्वेष-भावना रहती है वह भयावना स्वप्न देखता है; जिनके मन में प्रबल काम वासना रहती है वह सुन्दर नारियों का स्वप्न देखता है। मनुष्य के स्वप्न उसकी भोगवासना को खुले रूप से प्रगट न कर, रूप बदल कर प्रगट करते हैं। इसी लिए ही मनुष्य अपने स्वप्न का अर्थ स्वयं नहीं समझ सकता और स्वप्नों का अर्थ समझने के लिए मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता होती है। मनुष्य का कोई भी स्वप्न निरर्थक नही होता।

हम जितना ही अपने मन की आन्तरिक इच्छाओं को जानेंगे, उन पर उतना ही अधिक नियंत्रण प्राप्त करेंगे। परन्तु जिस प्रकार छिपे हुए षणयंत्र-कारियों तथा अपराधियों को समाज में प्रगट होने के लिए राष्ट्र की सरकार को इन षणयंत्रकारियों और अपराधियों के प्रति अपनी नीति को बदलना होता है, उसी प्रकार मनुष्य को अपनी निम्नकोटि की वासनाओं के प्रति भी अपनी नीति बदलनी पड़ती है। मानसिक चिकित्सक का सबसे महत्व का काम ही है कि वह रोगी की नैतिक धारणाओं में परिवर्तन करे। वह जैसे जैसे रोगी की अपराध-स्वीकृति को सुने, वह अपने भी अपराध को व्यक्त करके उसे प्रोत्साहित करे। जब मनुष्य जान लेता है कि उसी के समान भोग वासनाओं को रखने वाला व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण करने में समर्थ हुआ है, तो वह भी

आत्म-नियंत्रण में विश्वास करने लगता है। आत्म-स्वीकृति का भय उन्हीं लोगों को होता है, जो आत्म-विश्वास खो चुके हैं। अपनी भोग वासनाओं को मित्र बनाकर ही वश में किया जा सकता है, शत्रु बनाकर नहीं। जिस व्यक्ति ने अपने मन को देवासुर संग्राम बना लिया है, वह बाहरी जंगल में भी अपनी इच्छा के प्रतिकूल देवासुर संग्राम की स्थिति उत्पन्न कर लेता है और यदि वह अपनी निम्नकोटि की इच्छाओं को वश में करने में असमर्थ रहा है, तो वह बाहरी जगत की लड़ाई में भी आसुरी वृत्तियों के लोगों पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। उसका जीवन निराशा में ही समाप्त होता है। अतएव अपने मन पर विजय प्राप्त करने की दूसरी सीढ़ी आत्म-मैत्री स्थापित करनी है।

आत्म-मैत्री स्थापित होने से मनुष्य की सभी वासनायें उसकी चेतना के स्तर पर आ जाती हैं। ये वासनायें फिर जीवन में अपना स्थान चाहती हैं। लेखक की चिकित्सा में आये हुए एक युवक को पहले कुष्ट रोग का भय था। यह कुष्ट रोग का भय उसके मनोविश्लेषण और आत्म-स्वीकृति से जाता रहा। इसके कुष्ट रोग के भय का कारण दमित समलिंगी प्रेम वासना की थी। जब समलिंगी प्रेम का दमन कठोर नैतिक भावना द्वारा होता है और इस दमन में पाप की भावना काम करती है, तो एक ओर मनुष्य काम-वासना के विषय में बड़ा सदाचारी हो जाता है, परन्तु दूसरी ओर उसे कुष्ट रोग का, क्षय रोग का अथवा दूसरे प्रकार का भय उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण मनुष्य को कभी-कभी नपुंसकता भी हो जाती है। जब मनुष्य की सुपर ईगो अर्थात् नैतिक प्रतिबंधक में परिवर्तन कर दिया जाता है और जब इस भावना को दबानेवाली पाप संज्ञा को समाप्त कर दिया जाता है, तो समलिंगी प्रेम अथवा विकृत कामवासना चेतना के स्तर पर आ जाती है। अब मनुष्य की समस्या होती है कि वह इस वासना को क्या करे, यदि वह इसे सामान्य ढंग से तृप्त करने लगे तो फिर भी उसे आगे चलकर उसको कठोरता के साथ दबाना पड़ेगा। समाज विकृत कामवासना का प्रकाशन बरदास्त नहीं कर सकता। फिर जो आचरण किशोरावस्था में क्षम्य नहीं माना जा सकता। यदि किसी व्यक्ति की किशोरावस्था की नैतिक बुद्धि ने ही विकृत काम वासना की पाप संज्ञा लगाकर कठोरता से दमन किया, तो प्रौढ़ावस्था में उसकी सामान्य तृप्ति करना तो उसके लिये अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करेगा ही।

अतएव अपने मन को सुधारने की तीसरी सीढ़ी दमित प्रबल अनैतिक वासनाओं की शक्ति को समाजोपयोगी कार्यों में लगाना है। समलिंगी प्रेम की

वासना समाज सेवा के कार्य में, कला, नृत्य, संगीत में तथा कृष्ण उपासनामें खर्च की जा सकती हैं। इस वासना का शोध चिकित्सा, शिक्षा और दूसरे प्रकार की शारीरिक सेवा के द्वारा होता है। अतएव अपनी मानसिक शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाना अपने मन को सुधारने का तीसरा उपाय है। जो व्यक्ति अपने आपको सदा समाज-कल्याण के कार्य में लगाये रखते हैं, वे अपने मन का सुधार ही करते हैं। भले काम में लगे रहने का सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिक कारण कृष्ण ने गीता में बताया है, कि इससे मनुष्य की आत्मशुद्धि होती है और जिस कार्य से मनुष्य की आत्मशुद्धि होती है उससे समाज का उपकार अनायास ही हो जाता है।

कायेन मनसा वाचा केवलेन्द्रियोऽपि
योगिना कर्म कुर्वन्ति संगमत्यक्त्वात्मशुद्धये।

अपने मन को सुधारने से समाज का हित होता है और समाज के हित में सदा लगे रहने से अपने मन का सुधार भी अपने आप ही हो जाता है।

अपने मन का सुधार आत्म-निर्देश के अभ्यास से भी होता है। मनुष्य अपनी जटिल से जटिल आदतों से आत्म-निर्देश के अभ्यास से मुक्त हो जाता है। डाक्टर विलियम ब्राऊन के इस सम्बन्ध में प्रयोग बड़े ही शिक्षाप्रद है। डाक्टर विलियम ब्राऊन ने निर्देश-विधि तथा आत्म-निर्देश के द्वारा अनेक प्रकार के अपराधी बालकों का सुधार किया तथा उन्हें अपनी जटिल आदतों से मुक्त किया। इसके द्वारा मनुष्य अपनी चित्त की एकाग्रता को बढ़ा लेता है, उसकी स्मरण शक्ति बढ़ जाती है, इच्छाशक्ति दूर हो जाती है तथा उसका सभी प्रकार का आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। आत्म-निर्देश के अभ्यास से मनुष्य अपनी अनेक जटिल आदतों से भी मुक्त हो जाता है। स्वयं डाक्टर विलियम ब्राऊन अपनी सिगरेट पीने की जटिल आदत से इस अभ्यास से मुक्त हुए। जहाँ मनुष्य प्रयत्नपूर्वक यत्न करने से किसी जटिल आदत से मुक्त नहीं हो पाता, वहाँ वह आत्म-निर्देश के उपयोग से मुक्त हो जाता है। आत्म-निर्देश के अभ्यास से मनुष्य के मन का संगठन उसके अनजाने ही हो जाता है। प्रतिदिन सोते समय आत्म-निर्देश का अभ्यास करने से मनुष्य के जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है। उसकी मानसिक दुर्बलतायें उसे धीरे-धीरे छोड़ देती हैं और निराशा की जगह उसके जीवन में आशा का संचार हो जाता है।

आत्म-निर्देश का अभ्यास कैसे किया जाय

जो भी विचार मनुष्य के आन्तरिक मन में बैठ जाता है, वही मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को तदानुरूप बना देता है। ऐसे विचार से मनुष्य की मानसिक शक्तियों में, उसके चरित्र में और उसके शरीर में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है। यदि कोई बार-बार मन में विचार लावे कि उसके जीवन में अमुक दुर्घटना होनेवाली है, तो वह दुर्घटना अवश्य ही हो जावेगी। मन की दुर्बल अवस्था में अभद्र विचार बार-बार मन में आते हैं। रोगी व्यक्ति अपने रोग की बात सोचते रहता है; इस प्रकार उसका रोग दिन प्रतिदिन बढ़ते जाता है। किसी प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक कमजोरी का व्यक्ति कमजोरी के ही विचार मन में लाता है; इस तरह वह जो चित्र अपने मन में खींचता है, उसी प्रकार अनायास भी बन जाता है। अब यदि वह अपने मन में शुभ-विचार लावे, तो उसके शरीर, मन और चरित्र में मौलिक परिवर्तन हो जावे। इस प्रकार वह अपने भाग्य का निर्माता बन जाता है।

अभद्र विचार हमारे भीतरी मन में हमारे अनजाने ही सरलता से चले जाते हैं। इनके रोकने के लिये हमें सावधान रहना पड़ता है। इसके विरुद्ध भले विचारों को जानबूझकर ही धारण किया जा सकता है। भले विचारों के भीतर आने में कई अड़चनें होती है। इनमें से सब से बड़ी अड़चन उसके सफल होने के विषय में सन्देह भी है। किसी भी प्रकार के सन्देह से भला विचार बुरे विचार में परिणत हो जाता है। अपने पुराने संस्कारों के कारण मनुष्य का भला विचार उसी रूप में उसके आन्तरिक मन में नहीं आ पाता। अतएव भले विचारों को निःसंदेह भीतर बैठाने के लिये पहली आवश्यकता, अपने मन को साफ करने की है। जिस व्यक्ति के मन में किसी भले विचार को बैठाना है उसके मन का पहले विश्लेषण होना नितान्त आवश्यक है। मनोविश्लेषण के पूर्व किसी भी रोगी को अपने अकल्याण के विषय में ही विश्वास होता है; उसे अपनी भलाई के विषय में विश्वास नहीं होता।

मनोविश्लेषण के पश्चात् मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास करना आवश्यक है। मानसिक शैथिलीकरण के समय जो भी विचार मन में आता है वह उसी प्रकार विना विरोध के चेतन से अचेतन मन में चला जाता है। सोते समय भी मनुष्य का मन शैथिलीकरण की अवस्था में रहता है, अतएव मनुष्य जो विचार इस समय मन में लाता है वह विचार उसी रूप में मनुष्य के मन

में चला जाता है। इमीलकूये महाशय ने बताया है कि प्रतिदिन सोते समय मनुष्य निम्नलिखित विचार को दुहरावे—मैं प्रतिदिन हर तरह से उन्नति कर रहा हूँ। इस प्रकार के विचार को सोने के पूर्व दुहराने से मनुष्य में चमत्कारिक परिवर्तन हो जाता है।

डाक्टर विलियम ब्राऊन ने आत्म-निर्देश की एक दूसरी विधि बताई है। मनुष्य को चाहिये कि वह एक सोफा पर अपने अंगों को पूर्ण शिथिल करके लेट जाय। फिर वह गंभीर सांस लेकर अपने अंगों को और भी ढीला बनावे। इस प्रकार जब उसे नींद आने लगे, तो वह जिस बात को अपने आप में बैठाना चाहता है उसका ध्यान करे, तो उसकी मनोभावना अवश्य कार्यान्वित हो जाती है। इस तरह रोगी मनुष्य अपने रोग से मुक्त हो सकता है। सामान्य स्वस्थ व्यक्ति इस प्रकार अपनी स्मरण शक्ति, चित्त की एकाग्रता, इच्छा-शक्ति और आत्म-विश्वास को बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने किसी विशेष दशा में योग्यता बढ़ा सकता है और अपने चरित्र का बल बढ़ा सकता है। यह सब कार्य व्यक्ति के अनजाने हो जाता है। किसी भी प्रकार की जटिल आदत से भी हम आत्म-निर्देश के उक्त अभ्यास के द्वारा मुक्त हो सकते हैं। विलियम ब्राऊन का कथन है कि हम संभवतः मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में महान अध्यात्म शक्ति के सम्पर्क में आ जाते हैं और इसीलिये इस प्रकार के अभ्यास से हमारे जीवन में चमत्कारिक परिवर्तित हो जाता है।

अब यदि मनुष्य केवल शान्त-भावना, आनापानसति अथवा शिवभावना का अभ्यास करे और किसी विचार को, इच्छा को, मन में न आने दें, तो भी उसके व्यक्तित्व में भला परिवर्तन हो जावे। यह परिवर्तन अचानक ही हो जाता है। मनुष्य के चाहने से ही उसका अहित होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक किसी बात को चाहता है, उसका अचेतन मन उतना ही अधिक उसका विरोध करता है। रोगी शीघ्र ही रोग से मुक्त होना चाहता है, अतएव रोगी का अचेतन मन इस प्रस्ताव का विरोध भी उतनी ही तीव्रता से करता है, जब रोगी अपने रोग के विषय में उदासीन हो जाता है, यहाँ तक कि अपने रोग को अपना मित्र ही मानने लगता है और जब वह सचेत होकर ही नहीं वरन् उदासीन के रूप में अपने मन में उसके विषय में मुक्त होने का विचार अनायास लाता है तो उसका रोग चला जाता है। अब यदि वह केवल शान्त भावना का अभ्यास करे और रोग को भगाने का विचार मन में न लावे तो भी उसका रोग चला जावेगा। रोगी का अचेतन मन तभी तक रोग को दृढ़ता से

(शेष ११६ पृष्ठ पर)

मनुष्य को भय क्यों होता है ?

आज पारसनाथने अपना एक अनुभव बड़ी गम्भीरता से कहा। उसने कहा कि मैं आज विचार करने लगा कि मुझे दूसरों के सामने जाने में डर क्यों लगता है? इस प्रश्न का उत्तर मिला मैं जिन लोगों से डरता हूँ उनको अपने से बड़ा समझता हूँ। फिर सोचने लगा कि मैं दूसरों को अपने से बड़ा क्यों मानता हूँ? इसका उत्तर मिला मैं अपने को कुछ और लोगों से बड़ा मानता हूँ। आगे फिर विचार आया कि यदि मैं अपने से छोटों को अपने जैसा ही मानने लगूँ तो मुझे किसी को अपने से बड़ा मानने की भी आवश्यकता न हो फिर मुझे किसी से डर भी न हो। इसका मतलब इतना ही है कि यदि मैं सबके प्रति आत्म-भाव का अभ्यास करूँ तो मुझे किसी से डरने की आवश्यकता न हो। अतएव मुझे आत्म-भाव का अभ्यास अपने को निडर बनाने के लिये करना चाहिये।

उपर्युक्त विचार एक बड़े सच्चे और सदाचारी प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी का है। इसे हकलाने का रोग बहुत दिनों से सताता था। अब वह इस रोग से बहुत कुछ मुक्त हो चुका है। प्रथम श्रेणी में एम० एस० सी० पास कर लेने पर भी उसे डर रहता था कि वह इन्टरभ्यू में सफलता से बातचीत कर सका या नहीं, एक जगह तो उसने उसकी वाक्‌शक्ति पर सन्देह करने वाले व्यक्ति को डाँट भी दिया। वास्तव में प्रत्येक हकला व्यक्ति उनसे बातचीत करने वाले व्यक्ति से दूर रहता है। वह अपने से बड़े व्यक्ति से तो डरता ही है अपने समान व्यक्ति से भी इसलिये डरता है कि कहीं वह उसके बोलने पर मजाक न करे। इस प्रकार उसका भाव उसके हकले पन को बढ़ा देता है। अपने को समाज में नीचा देखकर वह समाज के व्यक्तियों को घृणा करने लगता है। इससे उसका हकला पन और भी बढ़ जाता है।

इस प्रकार के हकलेपन की जड़ मनुष्य के मन के भीतर बैठे आत्म-हीनता के भाव में रहती है। जिसका कारण अपने से बड़े लोगों का बचपन में तिरस्कार रहता है। काशी मनोविज्ञान शाला में प्रेम चिकित्सा से लाभान्वित चार व्यक्तियों के जीवन में यही पाया गया। एक व्यक्ति को अपने पिता से डर लगता था और तीन को अपने बड़े भाई से। बचपन से ही कठोरता के वातावरण में रहने के कारण इस डर ने उनके अचेतन मन में घर कर लिया था। उन्होंने संसार से प्रेम की आशा ही छोड़ दी थी। जब हम बच्चे को

बार-बार कहते हैं कि तुम निकम्मे हो, तो उसके मन में हीनता का भाव बैठ जाता है। इस हीनता के भाव को बालक समाज से अनेक प्रकार से छिपाता है। परन्तु वह किसी-न-किसी प्रकार व्यक्त हो ही जाती है। हकलेपन में इस भाव का व्यक्त होना एक उपाय है। ऐसा व्यक्ति सदा मानसिक खिचाव की अवस्था में रहता है। किसी प्रकार की कमजोरी छिपाने की चेष्टा से ही मनुष्य में मानसिक खिचाव उत्पन्न हो जाता है। दूसरे प्रकार की कमजोरी छिपाने की चेष्टा से जिस प्रकार हकलाना उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार हकलाने के छिपाने की चेष्टा करने से वह और भी बढ़ जाता है। ऐसे व्यक्ति को फिर समाज से अलग ही रहना पड़ता है।

अब इस प्रकार के मानसिक खिंचाव के अन्त करने का उपाय ऐसे व्यक्ति में आत्म-विश्वास को बढ़ाना है। यह आत्म-विश्वास स्नेह की वृद्धि से बढ़ता है। हकले व्यक्ति को सबसे डर रहता है। यदि उसे दूसरों से प्रेम हो जावे, तो उसका हकलापन भी चला जावे। स्नेह मनुष्य के सभी प्रकार के सामर्थ्य की जड़ है। जहाँ स्नेह रहता है वहाँ दूसरे प्रकार की मानसिक शक्तियों का भी उदय होता है। इसीसे मनुष्य में आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है। अतः विश्वास की वृद्धि होने पर हकलापन समाप्त हो जाता है। दूसरों के प्रति किया गया विश्वास ही आत्म-विश्वास बन जाता है।

हमारे एक छात्र से, अपने हकलेपन से मुक्त होने के लिये यह अभ्यास कराया गया कि तुम जब किसी भी व्यक्ति से बातचीत करो, तो सोचो कि मुझसे बातचीत कर रहे हो। उसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया था कि मैं उसे बहुत ही प्यार करता हूँ। इस अभ्यास को उसने बड़ी सचाई के साथ किया इसके परिणाम स्वरूप वह सरकार के बड़े-से-बड़े आफिसर के सामने निर्भीकता के साथ बात-चीत कर सका। उसने अपने एक व्याख्यान में बताया कि जब मैं पहले किसी से बोलने की चेष्टा करता था, तो मैं सोचता था कि वह व्यक्ति मेरे बोलने पर हँसेगा। इसके कारण मैं पहले से ही हकलाने लगता हूँ। मैंने अब सबके प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास किया। इसके कारण मैं सोचता हूँ कि मेरा बोलना सभी लोगों को प्यारा लगता है। बस इसी विचार के कारण अब मैं बड़ी-बड़ी सभाओं में निर्भीकता से बोलता हूँ।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि ऊपर से निडर व्यक्ति के मन में जितना डर का भाव रहता है, उतना सामान्य व्यक्ति के मन में नहीं रहता। चेतन मन के डर के भाव को समाप्त करना सरल है, परन्तु अचेतन मन के डर के भाव को समाप्त करना अत्यन्त कठिन है। इस डर का आधार दूसरों के प्रति अचेतन

में बैठा घृणा का भाव है। जिस व्यक्ति के अचेतन मनमें अपने किसी स्वगत के प्रति घृणा का भाव रहता है, वह चेतन मन से उसके प्रति श्रद्धा करता है। यह श्रद्धा का भाव उसके घृणा के भाव को और पोषित करते रहता है। जब तक उसका अचेतन भाव चेतना के स्तर पर नहीं आता, उसके भीतरी मन में स्नेह के भाव का उदय नहीं होता। घृणा के भावों के रेचन होने पर ही मनुष्य में सबको अपने समान देखने की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव आत्म-भाव की अनुभूति के पूर्व मनुष्य को ऐसे व्यक्तियों के प्रति घृणा के भाव का अनुभव होता है, जिनके प्रति वह श्रद्धा का अनुभव करता रहा और जिनके सामने बोलने पर वह अधिक से अधिक घबड़ाता रहा।

अपने मन से डर को निकालने के लिये व्यक्ति को मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में आकर सभी विचारों को चेतना पर आने की छूट देनी पड़ती है। अपने ही भावों के प्रति साक्षी भाव रखने से मनुष्य के सभी कलुषित विचार चेतना के समक्ष आकर समाप्त हो जाते हैं। जिन विचारों को चेतना के समक्ष आने से जितना रोका जाता है, वे मनुष्य की उतनी ही क्षति करते हैं। चेतना के नीचे दबे रहने के कारण वे अनेक प्रकार के आवेगों से सन्निद्ध रहते हैं। जब किसी विचार को चेतना के स्तर पर आने की छूट दे दी जाती है, तो उससे सम्बन्धित आवेग समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य के बहुत से भयों की जड़ बचपन के ऐसे संस्कारों में होती है, जिनके चेतना के स्तर पर आने से उन पर विवेक-मुक्त सोचा जा सकता है और फिर उन्हें समाप्त किया जा सकता है।

एक व्यक्ति को रेल पर जाने के कारण भय होता था। उसके बचपन की दमितस्मृति को चेतना के स्तर पर लाने से पता चला कि उसे किशोरावस्था में दो साथी बहकाकर कहीं एकान्त स्थान में ले गए और उसके साथ बलात्कार किया। यह घटना लज्जास्पद होने के कारण विस्मृत हो गई, परन्तु अत्यन्त भावात्मक होने के कारण उसका अचेतन मन में प्रभाव बना रहा। अब यह ऐसे डर में प्रकाशित हुई जो पुरानी स्मृति की प्रतीक थी। रेल से जाना काम-वासना का प्रतीक होता है। जिसे काम-कृत्य से घृणा हो गई है उसे रेल में चढ़ने से भी अकारण भय हो जाता है।

एक दूसरे रोगी को अकारण फिट हो जाता था। कभी सीढ़ी पर चढ़ते समय, कभी पुलपर चलते समय, कभी फाटक के भीतर जाते समय और कभी आग को देखकर यह फिट आता था। उपर्युक्त सभी बातें कामवासना की प्रतीक हैं। इसके जीवन में भी उसी प्रकार के बलात्कार की घटना घटी थी,

जैसे पहले बालक के जीवन से घटी थी। उसे काम-सम्बन्ध से ही घृणा हो गई। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व तपस्यायुक्त हो गया था। अतएव जब कामवासना के प्रतीक उसके सामने आते, तो उसे फिट का रोग हो जाता। अपनी फिट की अवस्था में वह उन सब चेष्टाओं को करता, जिससे यह ज्ञात होता कि वह किसी से लड़ रहा है और लड़नेवाले व्यक्ति ने उसे अपने वश में कर लिया है।

जबतक भय का कारण चेतना के समक्ष नहीं आता, तबतक भय नहीं जाता। फिर प्रतिभावना का अभ्यास करना भय के समाप्त करने के लिये आवश्यक होता है। यह प्रतिभावना का अभ्यास चेतना के स्तर से पार करके जब अचेतन मन में चला जाता है, तब अचेतन मन में साहस उत्पन्न होता है और भय से पैदा होनेवाले सभी रोग समाप्त हो जाते हैं।

मनुष्य के भय दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिन्हें वह जानता है और दूसरे वे जो उसकी चेतना के नीचे वर्तमान हैं। ऐसा व्यक्ति ऊपर से बड़ा निर्भीक दिखाई देता है, परन्तु भीतर से डरपोक होता है। चेतन मन के भय को मैत्रीभावना के अभ्यास से समाप्त किया जा सकता है। यह मैत्री भावना का अभ्यास सभी व्यक्तियों के प्रति, घटनाओं के प्रति, रोग के प्रति तथा अपनी वासनाओं के प्रति भी किया जा सकता है। भगवान बुद्ध के अनुसार सभी भय का कारण मनुष्य की प्रबल इच्छा में ही होता है। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं का जितना ही त्याग करता है, उसके भय का भाव उतना ही समाप्त हो जाता है। यदि पद से गिरने का डर है, तो पहले से सोच लिया जाय कि पद चला गया। यह भी हमारे कल्याण के लिये है। यदि मरने से डर हो, तो मरने के लिये तत्पर हो जाय। गरीबी का डर रहे, तो गरीब बनने की तैयारी कर ली जाय। यदि बदनामी का डर हो, तो उसके लिये तैयार हो जाना चाहिये। ऐसा करने से सभी डर समाप्त हो जाते हैं। जाने हुए वास्तविक डर जानी हुई इच्छाओं के त्यागने से जाते हैं। परन्तु इस प्रकार प्रतीक डर अथवा अकारण डर नहीं जाते। कुछ लोगों को गन्दगी, कीड़े - मकूड़ों, सभा में बोलने, परीक्षा, इन्टरव्यू, ट्रेन में चढ़ने आदि का अकारण भय होता है। ये सभी भय कामवासना के प्रति घृणा के परिणाम होते हैं। इन भयों की समाप्ति कामवासना के प्रति मैत्री भावना के अभ्यास से हो जाती है।

आधुनिक मानसिक चिकित्सा का रहस्य

निर्देश चिकित्सा - विधि का उपयोग रोगी की दमित वासना को उसके अनजाने हो रोगी के व्यक्तित्व के लिये उपयोगी बनाने में हैं। निर्देशक रोगी के अचेतन मन को उसके अनजाने ही उसके वश में करने की चेष्टा करता है। मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में रोगी का अहंभाव और उसके मन का नैतिक प्रतिबन्धक सुप्तावस्था में हो जाते हैं। मनुष्य की आलोचनात्मक बुद्धि कम हो जाती है। अतएव मनुष्य के भीतरी मन की भूखी वासनायें चेतना के स्तर पर सरलता से आ जाती हैं। इस प्रकार संमोहन की अवस्था में मनुष्य के सभी दमित भाव चेतना की स्तर पर लाये जा सकते हैं। इसके बाद उनका मनुष्य के उच्च व्यक्तित्व से समन्वय किया जा सकता है। संमोहित अवस्था दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की अवस्था में रोगी को स्मरण नहीं रहता कि उसने इस अवस्था में क्या किया और क्या कहा। दूसरी अवस्था में जो कुछ वह करता, कहता, सुनता है, वह उसे याद रहता है। परन्तु इन क्रियाओं पर उसका वश नहीं रहता। वह अनेक प्रकार की अनुचित चेष्टायें अपनी इच्छा के विरुद्ध कर डालता है।

जिन व्यक्तियों का मन विभाजित अवस्था में रहता है, जिनके भीतर-ही-भीतर भारी संघर्ष चलते रहता है, वे शीघ्र ही सम्मोहित हो जाते हैं। उनके दबे भाव कभी-कभी उनकी जानकारी में सहज रूप से अथवा प्रतीक रूप से प्रगट हो जाते हैं और कभी वे उनके अनजाने में प्रगट होते हैं। इन दोनों प्रकार से दमित भावों के प्रकाशन से व्यक्ति को मानसिक स्वास्थ्य लाभ होता है। इससे मानसिक खिंचाव कम होता है। इस प्रकार के सम्मोहन के पूर्व रोगी को निर्देश दे दिया जाता है कि उसके दमित भाव चेतना के स्तर पर आ जावेंगे। कभी-कभी ऐसा निर्देश न देने पर भी वे चेतना के स्तर पर मानसिक शैथलीकरण की अवस्था में आजाते हैं। यह मुक्तात्मक निर्देश प्रणाली है।

उपर्युक्त निर्देश के विरुद्ध दमनात्मक निर्देश है। इसमें रोगी की अचेतन भावना को चिकित्सक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से दबा देता है। इससे रोग के लक्षण दूर हो जाते हैं। उदाहरणार्थ किसी हिस्टीरिया के रोगी को अथवा प्रेतबाधा से पीड़ित व्यक्ति को अनेक प्रकार टोना के द्वारा दबा देने की क्रिया है। कभी-कभी मार-पीटकर भी रोग के लक्षणों को समाप्त कर दिया जाता है। बिजली के झटकों-द्वारा भी इसी प्रकार रोग समाप्त किया जाता है। ओझा

लोग भूत लगे आदमी को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से ठीक करते हैं। ओझाओं में देवी-देवता आदि समाये रहते हैं और रोगी के शरीर में दबा भूत इनसे डर जाता है। वह फिर उत्पात करना छोड़ देता है। वास्तव में यह रोगी की अचेतन भावना का प्रतीक-रूप से दमन है। इस प्रकार के दमन से थोड़े समय के लिये रोग हट जाता है, परन्तु फिर रोगी जैसा-का-तैसा हो जाता है। इस प्रकार की चिकित्सा चमत्कारक अवश्य होती है, परन्तु इससे आन्तरिक संघर्ष सदा के लिये समाप्त नहीं होता। इससे कभी-कभी रोगी को लाभ न होकर हानि होती है। इससे उसके व्यक्तित्व का बल घट जाता है।

डाक्टर फ्रायड ने जो नई चिकित्सा प्रणाली निकाली उसका प्रधान लक्ष्य रोगी की अनुचित इच्छाओं का दमन न करने के बदले उनका प्रकाशन अथवा रेचन है। रोगी के स्वप्न, सांकेतिक चेष्टाओं, उसकी विशेषताओं और भूलों का निरीक्षण करके रोगी की दमित भावना को जाना जाता है। जैसे-जैसे रोगी से उसकी दमित इच्छाओं की आत्म-स्वीकृति कराई जाती है, तैसे-तैसे उसका रोग हलका होता जाता है। मनोविश्लेषण प्रणाली में रोग का कारण खोजना और उसकी चिकित्सा एक साथ ही होती है। जब रोगी अपना स्वप्न कहता है, तो उसके दमित भाव का रेचन तुरन्त ही अथवा स्वप्न का अर्थ बताने से होता है। जो स्वप्न प्रत्यक्ष रहता है, उसके कहने मात्र से ही दमित भाव का रेचन होता है और जिस स्वप्न में दमित भावना प्रतीक रूप से प्रकाशित होती है, उसका अर्थ बताने से और उसकी स्वीकृति रोगी से कराने से रोगी के दमित भावों का रेचन होता है।

जब रोगी का स्नेह और विश्वास चिकित्सक के प्रति होता है, तो रोगी की दमित वासना शीघ्रता से चेतना पर आ जाती है। अन्यथा जैसे-जैसे चिकित्सक मनोविश्लेषण में अपनी कुशलता दिखाता है, तैसे-तैसे रोगी का दमित भाव और भी चतुराई से छिपते जाता है। यहाँ रोगी और चिकित्सक के प्रति पूर्ण सच्चाई और सहानुभूति रहना नितांत आवश्यक है। रोगी की नैतिक धारणायें जितनी ही उदार होंगी, वह रोगी को उतना ही लाभ पहुँचा सकेगा। डा० युङ्ग का कथन है कि जिस प्रकार चिकित्सक रोगी से अपने सभी कुकृत्यों की आत्म-स्वीकृति चाहता है, उसी प्रकार उसे भी अपने कुकृत्यों की रोगी के समक्ष आत्म-स्वीकृति करना होता है, और जिस प्रकार चिकित्सक अपने मन को सभी के प्रति नहीं खोल सकता, इसी प्रकार रोगी भी अपनी आन्तरिक वासनाओं की स्वीकृति सभी लोगों के सामने नहीं कर सकता। जिस रोगी का व्यक्तित्व चढ़ा-बढ़ा हो, जिसका समाज में स्थान अच्छा हो, उसको लाभ पहुँचाना बड़ा कठिन होता है।

वास्तव में मानसिक चिकित्सा को रोगी की सुपरईगों में अर्थात् उसके सांस्कृतिक स्वत्व में परिवर्तन करना पड़ता है। चिकित्सा के परिणाम-स्वरूप रोगी के जीवन के मूल्य और उसकी नैतिक धारणायें ही बदल जाती हैं। जबतक इनमें परिवर्तन नहीं होता, तब तक मनुष्य के सांस्कृतिक स्वत्व और उसकी भोग-वासनाओं में समन्वय भी स्थापित नहीं होता। कितने ही युवकों को अपने नजदीक की युवतियों के प्रति कामवासना रहती है। यह उनके अचेतन मन में उनके अनजाने पड़ी रहती है। बीच में पाप-बुद्धि उसे चेतना में आने से रोकती रहती है। यह वासना अनेक प्रकार के रोग बनकर अब प्रतीक रूप से प्रकाशित होती है। जब तक इस अनैतिक वासना को चेतना के स्तर पर न लाया जाय और उसका मनुष्य के व्यक्तित्व से समन्वय न स्थापित किया जाय, तब तक रोग नहीं जाता। परन्तु इस वासना को चेतना के स्तर पर लाना और उससे समन्वय स्थापित करना तभी संभव है, जब हम उसे बुरा न समझकर भला समझें। इसका अर्थ है कि रोगी के नैतिक मूल्यों में महत्व का परिवर्तन करना, उसकी सांस्कृतिक चेतना का पुनर्निर्माण करना, रोगी की दमित वासना को चेतना के स्तर पर लाने के लिये आवश्यक है। यह कार्य एकाएक नहीं होता। इसीलिये किसी भी रोगी की मानसिक चिकित्सा में बहुत देर लगता है।

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना केवल बुद्धि की नहीं बनी, उसकी बनावट में भाव भी काम करते हैं। इन भावों में परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। जिन बातों को रोगी वर्षों घृणा की दृष्टि से देखता रहा उनके प्रति उसके दृष्टिकोण को बदलना एक दिन की बात नहीं। अतएव रोगी को बार-बार अपनी पुरानी धारणाओं पर सोचना पड़ता है। फिर उसके व्यक्तित्व का नवनिर्माण होता है। इसी कारण मनोविश्लेषण - चिकित्सा में रोग - मुक्ति के लिये बड़ा समय लगता है। वास्तव में इस चिकित्सा-प्रणाली से आरोग्य प्राप्त व्यक्ति एक नया ही व्यक्ति बन जाता है। उसकी नैतिक धारणाओं में, उसके जीवन के मूल्यों में, आमूल परिवर्तन हो जाता है। अपनी भोगमयी प्रवृतियों के लिये वह न अपने आपको और न दूसरों को कोसता है। वह संसार के सभी तत्वों में भलाई देखने लगता है। मनोविश्लेषण केवल मानसिक उपचार-विधि नहीं, वरन् वह नई शिक्षाप्रणाली है। इस शिक्षाप्रणाली में व्यक्तिगत रूप से एक-एक व्यक्ति को न केवल बौद्धिक शिक्षा दी जाती है, वरन् उसके दमित भावों की जागृति करके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का नवनिर्माण किया जाता है।

सत्संगति का प्रभाव

हम सर्वदा विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आते ही रहते हैं। वे हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने योग्यतानुसार अपने परिवेश को निरंतर प्रभावित करता रहता है, अपने विचार एवं अनुभवों को अपने समीपवर्ती लोगों के मस्तिष्क में पहुँचाता रहता है। इस प्रकार हम सिर्फ उनके कथन अथवा कार्य से ही नहीं प्रभावित होते, अपितु उनका प्रच्छन्न उद्देश्य भी हमारे मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालता है।

सज्जन व्यक्ति अपने आन्तरिक सद्गुणों के संदेश औरों तक पहुँचाता है। सज्जन व्यक्ति सद्भावों का भण्डार है, अमृत का आगार है। अपनी वाणी एवं क्रियाओं के द्वारा वह उन्हीं शक्तियों को प्रकाशित करता है; जिनके ग्रहण से विश्व को नया जीवन मिलता है, मानव को अमरता प्राप्त होती है। सतोगुण से परिपूरित होने के कारण, ऐसे व्यक्ति समाज को सुख शांति, स्नेह, एवं कल्याण के पथ की ओर ले जाने के लिए प्रयत्न करते हैं। इनके हृदय में सदा मानव-कल्याण की भावनाएँ ही उठा करती हैं। जिनका प्रकाश इनके वचन अथवा कार्य द्वारा सतत् होता ही रहता है। ऐसे व्यक्ति अपने विचारों एवं कार्यों से अपने वातावरण को प्रभावित करते हैं, अपने संसर्ग में आनेवाले लोगों पर अपने गुणोंका आरोपण कर उन्हें आत्मवत् बना लेते हैं। यही कारण है कि संत समाज में सत्संगति को इतनी महत्ता प्राप्त है।

दूसरी ओर दुर्जनों की बिदाई इसलिए होती है, कि वे दुर्वृत्तियों के पोषक होते हैं। उनके विचारों के प्रकाशन (चाहे वाणी रूप से हो अथवा कार्य रूप से) से समाज का अनिष्ट होता है। किसी भी व्यक्ति की शक्ति उसके विचारों के प्रकाशन से ही बढ़ती है और विचारों के अभिव्यक्तिकरण द्वारा ही वह अन्य लोगों को प्रभावित कर उनके विचारों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। इस प्रकार एक व्यक्ति के मस्तिष्क में उदबुध बीज रूप सुप्त विचार आत्म-प्रकाशन के द्वारा क्रमशः विराट सर्वशक्ति मान होकर संसार को चकित कर देता है—विश्व का भाग्य - विधाता हो जाता है। कुजनों की संगति धर्म एवं कानून की दृष्टि से इसलिए वर्जित है, क्योंकि समाज यह नहीं चाहता कि उनके विचारों का प्रकाशन हो। मनुष्य को सज्जन अथवा दुर्जन बनाने वाला उसका मनोभाव ही है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य के हृदय में जब ऐसे कुविचार आने लगते हैं, जिनके पूर्तिकरण से समाज की हानि होती है, तब

समाज ऐसे व्यक्तियों को दूध की मक्खी की तरह अपनी सीमा से दूर हटा देने में ही अपना कुशल समझता है। समाज का निर्माण बहुतों के हित एवं सुख के लिए हुआ है। समाज यही चाहता है कि सभी व्यक्ति बहुतों की भलाई के लिये अपनी वैयक्तित इच्छाओं का बलिदान करना सीखें। समष्टि-हित के लिये कार्य करने वाला उद्देश्य एक ही होता है, जिससे उनमें सहयोग एवं मैत्री भावना का विकास हो, स्नेह एवं प्रेम की सुधामय सरिताएँ बहुजन-हिताय के मार्ग में ही प्रवाहित होती हैं।

परन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास करता है, तो समाज के साथ उसका संघर्ष होता है। जिसके परिणाम-स्वरूप उक्त व्यक्ति को समाज से बहिष्कृत होना पड़ता है। कानून द्वारा दण्ड अथवा फाँसी की सजा देकर उसे समाज से दूर कर देता है और उसे पापी की संज्ञा दे धर्मशास्त्र समाज को ही उसके सम्पर्क से हटा लेता है। परन्तु विचारों के संक्रामक रोग से मुक्ति पाने के लिए उस रोग के रोगी को ही इस संसार से मुक्त कर देना उसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है, जिस प्रकार घाव की वेदना से मुक्ति पाने के लिए अँगुली को काट फेकना। रोग का उपचार होना चाहिये न कि रोगी का संहार। प्रत्येक व्यक्ति समाज का आवश्यक अंग है और अपूर्ण अंगवाला व्यक्ति चाहे कितना भी स्वस्थ क्यों न हो कदापि सुन्दर नहीं कहला सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दुर्जनों का भी सुधार हो सकता है? तो उसके उत्तर में निवेदन यह है कि हो सकता; बड़ी ही सुगमता से हो सकता है। कोई व्यक्ति दुष्कर्म (समाज विरोधी कार्य) इसलिए करता है क्योंकि उस कार्य के करने की इच्छायें उसके मन में उठा करती हैं। उसके मन में उसी प्रकार के विचार ही आया करते हैं। अतएव इच्छाओं में परिवर्तन करना ही व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन लाना है। कानून के अनुसार दंड देने अथवा चोर-बदमाश कहकर उसकी निंदा करने से मनुष्य वास्तव में नीच मनोवृत्तियों वाला हो जाता है। उसके मन में यह बात घर कर जाती है कि वस्तुतः मैं दोषी हूँ, नीच हूँ, मुझसे किसी प्रकार का उत्तम कार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार उसका और भी पतन होता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए इस बात की अपेक्षा है कि इन्हें समाज के ऐसे उदार चेता व्यक्तियों के संपर्क में आने दिया जाय, जो इनके मनोभावों को बदल सके। संत की उक्ति है कि दुर्जन व्यक्ति सत्संगति पाकर ही सुधरता है, यह यथार्थ ही है।

सज्जन व्यक्ति न तो दुर्जनों से घृणा करते हैं और न उन्हें किसी प्रकार की सजा ही देते हैं। वे तो सिर्फ उसके विचार को बदल देते हैं, उसे इस बात

का विश्वास दिला देते हैं, कि तुम मनुष्य हो, तुम से संसार का बड़ा ही उपकार हो सकता है। फलतः दोषी मनुष्य भी आत्म-ग्लानि को त्याग अपने मन में सत्-विचार लाने लगता है, और विचार पवित्र हो जाने से मनुष्य की सभी क्रियायें शुद्ध एवं कल्याण-कारिणी होती हैं।

आज प्रातः काल लेखक के एक मित्र उससे मिलने आए। वे आज कल आध्यात्मिक आत्मनिर्देश-द्वारा अपने को उन्नत बनाने में संलग्न हैं। इस रीति से उन्होंने सिर दर्द के पुराने रोग से मुक्ति प्राप्त कर ली है। उनकी दृष्टि-शक्ति भी तीव्र हो गई है। उनके रोग का कारण एक प्रकार की हीनता की मनोवृत्ति थी। वे अपने जीवन से असन्तुष्ट थे, कारण—उनसे कम योग्य व्यक्ति भी उनसे ऊँचे पद पर थे। यही आत्म-हीनता का भाव उनके मस्तिष्क को असन्तुलित किए रहता था। परन्तु आत्म-निर्देश के विचारों ने उन्हें इस दुःखद मनोवृत्ति से निवृत किया, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके मन में स्फूर्ति आई एवं शारीरिक कष्टों का भी नाश हुआ। कुछ ही दिनों पूर्व ये मित्र बड़े ही चिंतित रहते थे। अपनी चिन्ता-मग्नता का कारण उन्होंने जो बताया, उसे उन्हीं के कथानुसार नीचे लिखा जाता है।

कल मेरा परिचय एक प्रसिद्ध शिक्षाविद से कराया गया। परिचय कराने वाले सज्जन भी एक कुशल शिक्षा-विद थे तथा शिक्षा विभाग के उच्च-पदस्थ कर्मचारी थे। जिन सज्जनों से मेरा परिचय कराया गया, वे बड़े ही अभिमानी थे। मुझसे उन्होंने ऐसा वर्ताव किया मानों मैं योग्यता में उनसे बहुत ही छोटा होऊँ। उन्होंने मुझसे सिर्फ दो-एक बातें कीं। इस घटना से मेरा मन खिन्न हो गया। मुझे घोर आत्म-ग्लानि हुई। रात को मुझे नींद नहीं आई। परन्तु प्रातःकाल मेरा विचार बदला। मैंने मन-ही-मन कहा कि वह व्यक्ति असभ्य था, गँवार था, उसे शिष्टाचार के नियम भी नहीं मालूम हैं। सज्जन व्यक्ति कभी घमण्डी नहीं होते। मुझे तो उस पर दया करनी चाहिये, ईर्ष्या नहीं।

इस प्रकार के विचारों से उन्हें यथार्थ ही लाभ हुआ। जब हम किसी नीच मनोवृत्ति के व्यक्ति के पास जाते हैं, तो वह अपने वार्तालाप-द्वारा हीन विचारों को ही हमारे मस्तिष्क में प्रविष्ट कराता है, जिससे हम अपने को भी तुच्छ और निम्न-कोटि का समझने लगते हैं। क्षुद्र विचार वाले व्यक्ति यदि दैव योग से कोई उच्चपद प्राप्त कर लें, तो अपनी महत्ता दिखलाने के लिए वे अपने आधीनस्थ व्यक्तियों को सतत क्षुद्र बनाने की चेष्टा ही किया करते हैं। उनकी यह मनोवृत्ति किसी-न-किसी रूप से प्रगट होती ही रहती है। उनके इस व्यवहार से निम्न पदस्थ लोगों के अचेतन मन में एक प्रकार की आत्म-ग्लानि होती

है, जिससे उन्हें मानसिक अशान्ति होती है। परिणामतः वे उस व्यक्ति से घृणा करने लगते हैं, जिसके कारण उन्हें मानसिक कष्ट होता है।

इसी प्रकार के कुविचारों के प्रभाव से मुक्त रहने के लिए ही एकान्तवास एवं सामाजिक व्यक्तियों से दूर रहने की आवश्यकता पड़ती है। अपनी प्रसंशा सुन मनुष्य को हर्ष-विह्वल न होना चाहिये, जिससे अपनी निन्दा सुन अथवा अनादर होते देख उसे दुख भी न होगा। जो व्यक्ति बराबर आदर पाने के लिए ही उत्सुक रहता है, उसे निरावृत होने के लिये भी सतत तैयार रहना चाहिए। सुख-दुःख अथवा मानापमान को सम-भाव से देखने वाला कभी भी मानसिक अशान्ति का शिकार नहीं होता।

दूसरे के विचार मनुष्य को तभी तक प्रभावित कर सकते हैं, जब तक उसकी इच्छा-शक्ति का विकास न हुआ हो। दृढ़ विचारवाले व्यक्ति को कोई प्रभावित नहीं कर सकता। उसी मनुष्य के विचार दृढ़ होते हैं, जो किसी निश्चित सिद्धान्त के अनुसार जीवन को गढ़ता है। जब व्यक्ति को कर्तव्य-ज्ञान हो जाता है, तो वह दूसरों की निंदा-स्तुति से सर्वथा परे हो जाता है। आत्म-ज्ञानी व्यक्तियों के सम्पर्क से मनुष्य में अच्छे विचार आते हैं, जिससे संसार का हित-साधन होता है। अस्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए साधु-संपर्क आवश्यक है।

सज्जनों के सम्पर्क से मनुष्य को आत्म-निर्देश का अवकाश मिलता है। अच्छी पुस्तकों के अध्ययन से भी मनुष्य आत्मोन्नति कर सकता है। अस्तु सद्-ग्रन्थों का पठन-पाठन लोक-मंगल की दृष्टि से अत्यन्त ही लाभदायक है।

———

मानसिक रोग की समाप्ति में पुनर्शिक्षा का महत्व

मानसिक रोग की उत्पत्ति मनुष्य के प्रबल मनोभावों के दमन से होती है। जिस व्यक्ति के बचपन की शिक्षा अत्यधिक आदर्शवादी होती है, उसके मनोभावों का वैसा ही दमन होता है। पुनर्शिक्षा का कार्य मनुष्य के आदर्श का निर्माण नहीं, अपितु उन आदर्शों को व्यवहार्य बनाना है। आदर्शवादिता मनुष्य को अपनी कमजोरी के ज्ञान से वंचित रखती है। अतएव मनुष्य इनसे मुक्त नहीं होता। फिर उसके आदर्श और व्यवहार में एकता नहीं रहती। वह अपने अनजाने अथवा अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने आदर्श के विरुद्ध आचरण करता है। किसी भी प्राकृतिक मनोभाव की आत्म-स्वीकृति न करने से वह एक ओर विकृत हो जाता है और दूसरी ओर वह इतना प्रबल हो जाता है कि वह मानसिक विभाजन अथवा मानसिक रोग की स्थिति उत्पन्न कर देता है। जिस मनोभाव का जितना ही दमन किया जाता है, वह उतना ही प्रबल और बुरा बनते जाता है। यही मनोभाव रोगमें प्रकाशित होता है। पुनर्शिक्षा का कार्य इस दमित भाव को चेतना के स्तर पर आनेमें सहूलियत देने का है।

रोगी का आदर्शात्मक मन सदा उसके उन मनोभावों का दमन करते रहना है, जो उसके जीवन के आदर्श के प्रतिकूल होते हैं। वह इनसे सम्बन्धित स्मृतियों को भी दबाते रहता है। मनुष्य की भावात्मक स्मृतियाँ जितनी ही प्रबल होती हैं, उसे अपने आदर्शात्मक स्वत्व को अर्थात् रचनात्मक स्वत्व को भी उतना ही प्रबल बनाना पड़ता है। इस तरह अत्यधिक आदर्शवादी व्यक्ति का मन विभाजित अवस्था में रहता है। जब तक मनुष्य के आदर्शवादी मनमें इतना परिवर्तन नहीं हो जाता कि वह भोगवादी प्रवृत्तियों को अपने स्वभाव का अंग मान ले, तब तक मानसिक विभाजन की अवस्था का अन्त नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को वे घटनायें याद नहीं आतीं, जिसके कारण उसे मानसिक रोग हुआ। अतएव मानसिक चिकित्सक का सबसे महत्व का कार्य मनुष्य के आदर्श में इस प्रकार का परिवर्तन लाना है, जिससे वह अपनी भोगेच्छाओं को असाधारण न मानकर सामान्य मान ले और उन्हें अपने जीवन का अनिवार्य अंग जाने। यह पुनर्शिक्षा का कार्य बड़ा ही जटिल है। किसी मनुष्य के आदर्शों का निर्माण करना जितना कठिन है, उससे अधिक कठिन उसके आदर्श और उसकी जीवन-शक्ति में समन्वय स्थापित करना है—अर्थात् उसके आदर्शों

को व्यवहार्य बनाना है। स्वमान्य आदर्शवादियों की दृष्टि में यह कार्य बहुत कुछ अनैतिक ही दिखाई देगा।

रोगी के आदर्श ऊँचे होते ही हैं। वह इनके प्रतिकूल कुछ नहीं सुनना चाहता। वह नहीं जानता कि इन ऊँचे आदर्शों के पीछे खोखलापन छिपा हुआ है। ये आदर्श उसके नैतिक दिवालियापन की ताल ठोंकते हैं। यदि किसी व्यक्ति को बताया जाय कि वह वास्तव में अपनी कमजोरी को अपने आपसे छिपा रहा है, तो वह इस ज्ञान को देनेवाले का शत्रु हो जायगा। नैतिकता का दिवालिया व्यक्ति, उच्च नैतिकता धारण करने के लिये दूसरों की प्रशंसा का लालायित रहता है। वह इस प्रकार अपनी कमजोरी को छिपाता है। परन्तु प्रकृति हमारी किसी भी कमजोरी को छिपी न रहने देती। वह उसे किसी-न-किसी प्रकार प्रकाशित करती ही रहती है। अत्युच्य नैतिकतावाले व्यक्ति को बड़े घृणित स्वप्न होते हैं। जब इस प्रकार का स्वप्न होना बन्द हो जाता है, तो उसे किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो हो जाता है। रोग मनुष्य का प्राकृतिक शिक्षक है। वह बताता है कि उसकी आन्तरिक मनोस्थिति कैसी है।

जो काम रोग दण्ड के द्वारा करता है, वही काम प्रेम के साथ चिकित्सक करता है। परन्तु समय के पूर्व कोई भी चिकित्सक किसी रोगी की सहायता नहीं कर सकता। जब रोगी का मन अपने रोग से ऊब जाता है, तभी वह चिकित्सक की बातों में सच्चाई देखने लगता है और फिर उसके आदेसानुसार अपने जीवनमें परिवर्तन करने की चेष्टा करता है। रोगी का अपने सिद्धान्तों के प्रति भावात्मक सम्बन्ध हो जाता है। उसमें वह सच्चाई ही देखता है। दोषों के प्रति उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। अतएव जब कोई व्यक्ति इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल कुछ बात कहे, तो वह उसे व्यर्थ ही नहीं; अपितु हानिकारक समझता है। ऐसे रोगी का पुनर्शिक्षित होना अत्यन्त जटिल कार्य है।

हमने अपने मानसिक चिकित्साके अनुभवमें देखा है कि हस्तमैथुनकी जटिल आदत उन्हीं किशोर बालकोंमें रहती है, जिन्हें अच्छे नैतिक वातावरणमें बचपनसे ही रखा गया है, जिनके पिता उनके प्रति अत्यन्त सतर्क रहे और जो स्वयं नैतिकताके बड़े ऊँचे आदर्श रखते हैं। ये बालक जितना ही अपने आपको हस्तमैथुनके लिये कोसते हैं, वह आदत उतनी ही जटिल होती जाती है। वे हजार प्रकारके दृढ़ निश्चय इसके प्रतिकूल करते, परन्तु समय आनेपर इसे किये बिना नहीं रहते। इससे वे अपने आप पर ही विश्वास खो बैठते हैं। फिर यह आत्म-विश्वासका अभाव उनके दूसरे कार्यों में भी देखा जाने लगता है।

उनकी स्मरण शक्ति कमजोर हो जाती है। वे चित्त की एकाग्रता खो बैठते हैं और अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाते। सभी लोगोंकी बातोंमें उन्हें सन्देह होने लगता है।

ऐसी अवस्था में जब वे कुछ डरावने लेख इस आदत के विषयमें पढ़ लेते हैं, तब तो उनकी दुर्दशा का ठिकाना नहीं रहता। वे सभी प्रकार के मानसिक रोग की तैयारी कर लेते हैं। कभी-कभी वे इस आदत को छोड़नेमें समर्थ होते भी, तो उन्हें स्वप्नदोष होना शुरू हो जाता है। इससे वे जितना ही डरते हैं, रोग उतना ही बढ़ता जाता है। यह कभी-कभी प्रमेह का रूप ले लेता है। अब मनुष्य को हर प्रकारके रोग अथवा दूसरी बुराइयाँ अपने में दिखाई देने लगती हैं। यह सभी बातें उस शिक्षा का परिणाम है, जो मनुष्य के स्वभाव के सभी तत्वोंकी अवहेलना कर उसे आदर्श व्यक्ति बनानेकी चेष्टा करती है। अब व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देनी पड़ती है, जिससे वह अपने आपको देवता न जानकर सामान्य व्यक्ति ही समझे। इसके लिये उसके उन दबे भावों को चेतनाके स्तर पर लाया जाता है, जिनके कारण उसके मन में खिंचाव की स्थिति उत्पन्न हुई।

मानसिक रोग अत्युच्च आदर्शवादिता का सहगामी है। मानसिक रोगी को अपने चरित्र की आलोचना असह्य होती है। वह अपने भीतरी मन की स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता। इस स्थितिको स्वीकार किये बिना उसका रोग समाप्त नहीं होता। पुनर्शिक्षक का काम मनुष्य के झूठे अभिमान को घटाना और उसमें आत्म-विजय प्राप्ति की कामना उत्पन्न करना होता है। इस प्रसंगमें हमारी चिकित्सा में आये दो एक व्यक्तियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं।

आज से एक साल पूर्व हमारे पास एक अठारह वर्ष का नवयुवक आया। इसे अपनी इच्छाके प्रतिकूल हस्तमैथुन करने की आदत थी। उसका कथन था कि मैं जब किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में जान लेता हूँ कि उसे यह आदत है, तो मैं उससे बहुत घृणा करता हूँ; परन्तु मैं स्वयं उसी में पड़ा हूँ। यह व्यक्ति सदाचारी है। उसके माता-पिता भी उसे सदाचारी मानते हैं। वह स्वयं किसी प्रकार के अन्य व्यभिचार का लेशमात्र अपने में नहीं देखना चाहता था। एक बार उसके बड़े भाई ने उसकी माँ से उसके सुनने में कहा कि वह किसी पड़ोसी की बहू के प्रति प्रेम-दृष्टि रखता है, तो वह एकदम तिलमिला उठा और भाई को अपना शत्रु समझने लगा। इस युवक को प्रारंभ में बड़ी सान्त्वना दी गई।

पीछे उसे अपने स्वप्न लिखने को कहा गया। उसने कई स्वप्न बताये।

पहले स्वप्न में उसने देखा कि वह अपने कमरे में बन्द है और सभी प्रकार के जंगली जानवर बाहरसे चिल्ला रहे हैं और उसके कमरे का दरवाजा भड़भड़ाते हैं। वह उनसे डर रहा है।

दूसरे स्वप्न में उसने देखा कि बहुत से साँप, बिच्छू, गोजर कमरेमें वर्तमान हैं। ये सभी जगह मौजूद हैं। दीवालों पर नजर डालने पर भी ये ही दिखाई दे रहे हैं। वह बहुत घबड़ा गया है।

इन दो स्वप्नों का अर्थ स्पष्ट ही है। पहला स्वप्न उसका अपने सम्बन्धियों के प्रति शत्रुताका भाव व्यक्त करता है। यह न केवल अपने बड़े भाई के प्रति वरन् अपने पिता और माता के प्रति द्वेषभाव रखने लगा था। ये लोग अब उसे चीते भालू के रूपमें दिखाई देने लगे थे। ये इस समय किसी-न-किसी बात के लिये उसके आलोचक बन गये थे। दूसरा स्वप्न उसका अपने आन्तरिक भावों के प्रति शत्रुता का भाव व्यक्त करता है। उसके दमित भाव अब साँप, बिच्छू-गोजर आदिके रूप में परिणत हो गये थे। इन दोनों स्वप्नों को जब हम मिला देते हैं, तो हम देखते हैं कि रोगी को आराम न तो घर के बाहर है और न घर के भीतर। न उसे बाहरी लोगों की मित्रता प्राप्त है और न अपने ही मनोभावों की। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी जटिल रोग का आवाहन करने लगता है। वास्तव में इस समय इस रोगी को खाँसी, बुखार, कमजोरी आदि हो रहे थे। वह अब क्षय रोग का अभिनय कर रहा था। वह आन्तरिक मनोस्थिति और अपने सम्बन्धियों के व्यवहार से परेशान था। अतएव जीवन का अन्त करना चाहता था।

रोगी के आगे के स्वप्न बड़े ही विलक्षण थे। ये स्वप्न उसकी पुनर्शिक्षा में सहायक हुये। एक दिन रोगी बड़ी निराशा की अवस्था में आया और धीरे-धीरे उसने बताया कि उसने स्वप्न में अपने आपको उसी युवती से प्रेम-प्रलाप करते पाया; जिसके प्रति प्रेम दृष्टि रखने का आरोप उसके बड़े भाई ने उसकी माता के प्रति किया था। उसने हमसे पूछा कि क्या वास्तव में वह इतना पापी है कि दूसरे की स्त्री के प्रति व्यभिचार की भावना अपने भीतरी मन में रखता है। जब हमने बताया कि इसमें कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। और इस प्रकार के स्वप्न बड़े-बड़े महात्माओं को भी होते हैं, तो उसे कुछ शान्ति मिली। उसे बताया कि वह अपने भाई के प्रति इसीलिये ही अधिक रुष्ट हुआ था कि उसके भीतरी मन में वह चोर छिपा हुआ था, जिसकी ओर उसने उँगली बताई थी। दूसरे लोग हमारी उन कमजोरियों को सरलता से जान लेते हैं, जिन्हें हम स्वयं नहीं जान पाते। इस प्रकारकी आत्म-स्वीकृति से उसे बड़ा लाभ हुआ।

अगले स्वप्नमें उसने देखा कि उसके घर का नौकर ही उसकी माँ के साथ व्यभिचार कर रहा है और यह देखकर उसे बुरा नहीं लगता। इस स्वप्न को सुनाने में रोगी को उतनी उद्विग्नता नहीं हुई, जितनी पहले हुई थी। इस स्वप्न के पीछे छिपा हुआ आशय उसे बताया गया। डाक्टर फ्रायडका कथन है कि पिता-पुत्र में संघर्ष माता के स्नेह प्राप्ति के लिये ही होता है। जब माँ बेटे को पति से अधिक प्यार करती, तो पति को बेटे का शत्रु बना लेती है। फिर जब वह पुत्र को छोड़ पति को अधिक ध्यान देने लगती है, तो पुत्र को ईर्ष्यालु बना लेती है। इस व्यक्ति के विषय में यही हुआ था। माँ पहले इसे इतना अधिक प्यार करती थी कि उसकी मनचाही बातें सभी करती। पीछे जब कुछ समय के लिये किशोरावस्था में बालक को बाहर रहना पड़ा, तो माँ का ध्यान बड़े भाई के प्रति और पिता के प्रति चला गया। अब ये दोनों शत्रुवत् बन गये।

उक्त सभी मानसिक प्रतिक्रियायें युवकके अनजाने ही अचेतन मन में होती थीं। उसका चेतन उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मानसिक रोग उसे इसीलिये ही हुआ था। जब युवक ने अपने मनोभावों को जाना, तो उसका रोग भी समाप्त हो गया। फिर उसके अपने सम्बन्धियों के प्रति मनोभाव बदल गये।

मनुष्य की पुनर्शिक्षा के लिये उसे आत्म-ज्ञान कराना नितांत आवश्यक है। फिर उसमें आत्म-विश्वास का उदय होता है। वह झूठी दिखाऊ आदर्श-वादिता का त्याग करके सच्चे नैतिक मूल्यों को अपनाता है। आज भारतवर्ष में मनोविज्ञान की आवश्यकता इसलिये ही है कि हम अपनी भौतिक तथा नैतिक कमजोरी को झूठी आदर्शपरायणता के पीछे छिपा रहे हैं। इसके कारण हमारे देशमें मानसिक रोगों की वृद्धि हो रही है। हमारे धर्मशिक्षक सदा आदर्शों की चर्चा करते हैं, परन्तु उन आदर्शों के अनुसार चलने की शक्ति मनुष्यमें कैसे आती है, इनका उपाय नहीं बताते। आदर्शों की चर्चा-मात्रसे मनुष्य में आत्म-भर्त्सना का भाव और इच्छाशक्ति की दुर्बलता आती है। इसी के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। पुनर्शिक्षा का कार्य-मनुष्य को आत्म-ज्ञान कराकर उसमें आत्म-विश्वास बढ़ाना तथा उसके आदर्शों को व्यवहार योग्य बनाना है।

हृदय की दुर्बलता

वर्तमान समयमें हृदयका रोग बड़ा व्यापक होरहा है और लोगोंको हृदय की दुर्बलता पैदा होती जा रही। अब प्रश्न यह है कि ऐसा होता क्यो है? हृदय-रोग के कुछ कारण भौतिक होते हैं, पर अधिकांश कारण मानसिक होते हैं। मन के ही विचार शरीर पर उतर आते हैं। इसीलिए प्रत्येक डाक्टर को मनोवैज्ञानिक होना आवश्यक है। जो गुप्त रोग होते हैं, उसमें तो अवश्य ही मानसिक कारण होते हैं। हृदय की खराबी, गले का रोग, पेट की बीमारी आदि ऐसी ही बीमारियाँ है। एक लड़की जो खाती थी, उसे कय कर देती थी। इसका भी मानसिक कारण था। कभी-कभी टायफायड का कारण मानसिक होता है। टायफायड का बड़बड़ाना स्वप्न के ही सदृश है और उसमें अचेतन मन के दबे भाव प्रतीक रूप से बाहर निकल आते हैं। टायफायड का बकना-झकना लाभ-दायक होता है। उसमें दबा हुआ क्रोध, भय, घृणा आदि बाहर निकल जाते हैं।

हृदय के रोग का कारण प्रायः मानसिक ही होता है। कितने हृदय के रोग, वास्तविक रोग होते ही नहीं। लेकिन रोगी को हृदय के रोग की अनुभूति होती है। हमारे एक मित्र, जो बड़े विद्वान हैं; बहुत दिनों से हृदय-रोग से पीड़ित थे और उन्हें सीढ़ी पर चढ़ना-उतरना आदि मना था। बाद में जयपुर के एक विशेषज्ञ के पास गए, तो पता चला कि वास्तव में रोग कुछ नहीं है। रोग की कल्पना भी उतना ही दुख देती है, जितना स्वयं रोग। ऊपर के उदाहरण में हृदय का रोग नहीं, बल्कि मन का रोग था। उसका कारण मानसिक था। कभी-कभी इस तरह के वहम हो जाते हैं। यह मानसिक दुर्बलता है। कभी-कभी भूत के न होने पर भी भूत का भय लगा रहता है। हृदय का रोग भी इसी तरह का भुतैला रोग है। मन का ही प्रभाव शरीर पर आ जाता है और सच में हृदय का रोग हो जाता है। इस प्रकार संदेह होने से भी रोग हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न है कि दूसरे के कहने पर हम मान क्यों लेते हैं कि हमें हृदय का रोग है? वास्तव में मन इतना दुर्बल हो जाता है कि हमें उस पर विश्वास हो जाता है। कोई कह दे कि टी० बी० हो गया, तो विश्वास हो जाता है और कभी-कभी सच में टी० बी० हो भी जाता है। टी० बी० का रोगी अपने रोग से नहीं मरता, बल्कि उसका भीतरी मन मर जाना चाहता है। जब मनुष्य अधिक भय, निराशा, शोक आदि से पीड़ित हो जाता है, तो मर जाना चाहता है और इसी इच्छा की पूर्त्ति के लिए टी० बी० आ जाता है।

इसी प्रकार हृदय के रोग में भी जहरीले विचार हृदय में बैठे रहते हैं। वे विचार ही रोग के कारण होते हैं। उन्हें निकाले बिना हृदय का रोग अच्छा नहीं होता।

सूरत में हमें एक रोगी मिला, जो बराबर उद्विग्न रहता था। उसके मामा को हृदय का रोग हो गया था। उसे मैंने बताया कि उसका कारण मानसिक है और वह है किसी प्रकार का गहरा असन्तोष। उसके साथ घरेलू बातचीत करने पर मालूम पड़ा कि वह अपने को हर जगह तिरस्कृत समझता है। अतः स्वाभिमान की पूर्ति नहीं होती है। हृदय के रोगी में एक ओर तो बड़ा अभिमान होता है और दूसरी ओर सम्मान नहीं मिलता। तो रोग को अच्छा करने के लिए या तो अभिमान को घटाया जाय या सम्मान पाया जाय। पर सम्मान पाना अपने हाथ में है नहीं। हम प्रायः जितना ही सम्मान चाहते हैं, उतना ही तिरस्कार मिलता है। अतः सम्मान के लिए दौड़ना व्यर्थ है। अपनी आत्मा का सम्मान करना चाहिए, दूसरे लोग सम्मान करें या न करें। कोई दूसरे की बात नहीं सोचता, सब अपने में ही मस्त रहते हैं। दुनिया के लोगों से क्या सम्मान मिलेगा। इस भाव को दृढ़ कर लेने से हृदय का रोग नहीं होता। उपर्युक्त रोगी ने बताया कि उसके बड़े भाई के व्यवहार में कटुता आ गई है, जो मुझसे सहा नहीं जाता है। मैं उनके बड़े भाई से मिला। वे तीन भाई थे और साथ ही रहते थे। वहाँ पता चला कि छोटे दो भाई बड़े भाई की स्त्री से बीस वर्ष से नहीं बोलते थे। इस प्रकार बड़े भाई की बड़ी विचित्र हालत थी। उसे पत्नी और भाई दोनों को ही खुश रखना था। छोटा भाई दूसरा मकान लेकर भाभी से अलग रहने लगा। तभी से उसे हृदय का रोग शुरू हो गया। उसका वास्तविक कारण यही था कि उसे रोज-रोज यह आभास होता था कि भाभी अनादर करती है। यही बढ़ते-बढ़ते रोग बन गया। अब रोगी होकर वह आदर पाना चाहता है। यदि कह दिया जाय कि रोग झूठा है, तो वह सच्चा रोगी हो जाय।

हृदय के रोग का दूसरा कारण यह है कि हम स्वयं सुख चाहें और दूसरे के सुख की परवाह न करें। दूसरे के हृदय पर आघात करने से भी हृदय का रोग हो जाता है। कितने लोग स्त्री को प्यार करते हैं, फिर उसी से घृणा हो जाती है। ऐसे लोगों को हृदय का रोग हो जाता है। वास्तव में हमारी अंतरात्मा व्यापक और न्यायप्रिय है। विलियम स्टैकिल ने एक ऐसा उदाहरण दे रक्खा है कि उसके यहाँ एक रोगी आया। उसने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया था। एक दिन उसने स्वप्न में अपनी पत्नी को देखा और उसे

आलिंगन करने को दौड़ा और कहा कि मैं सबसे अधिक प्यार तुम्हें ही करता हूँ। इस पर उस स्त्री ने उसे गाली दी और स्त्री को उसने छुरा भोंक दिया। इस भयानक स्वप्न को देखने पर वह बड़े जोर से चिल्ला उठा और जग पड़ा। यह मनुष्य धनी और सुन्दर था और उसे शान थी कि सभी औरतें उसे प्यार करती हैं। वह पुरुष सबसे प्यार किया करता था। एक टाइपिस्ट स्त्री से उसका प्यार हो गया और उसने उससे शादी कर ली। एक दिन अपने एक मित्र और स्त्री के साथ वह मोटर पर जा रहा था। मोटर लड़ गई और मित्र की मृत्यु हो गई। मित्र की पाकेट में एक पत्र मिला, जो उसी की पत्नी का प्रेमपत्र था। इस पर उसे बहुत क्रोध आया और उसने अपनी स्त्री को तुरन्त तलाक दे दिया। तभी से उसे हृदय का रोग हो गया। वास्तव में ऊपर से वह उस स्त्री को घृणा करता था, पर हृदय से तलाक नहीं दे पाया था। स्टैकिल ने बताया कि जबतक वह स्त्री फिर संतुष्ट नहीं होगी, तबतक उसका रोग नहीं छूट सकता।

इसी प्रकार का एक रोगी मुझे मिला। उसके दो स्त्रियाँ थीं। एक को तो उसने असंतुष्ट कर दिया था। मैंने उसे उस स्त्री को संतुष्ट करने को कहा। उसके हृदय के रोग का कारण उसकी स्त्री की असंतुष्टि थी। दूसरे के हृदय को चोट पहुँचा कर हम अपने हृदय को दुर्बल बना लेते हैं और रोगी बन जाते हैं। इसी प्रकार एक अफसर के जरा कठोर व्यवहार के कारण एक नौकर आत्महत्या करके मर गया। इसका उन अफसर पर बहुत प्रभाव पड़ा और तीन-चार वर्ष बाद उन्हें हृदय रोग हो गया। मैंने उन्हें सलाह दिया कि उस नौकर के बाल-बच्चोंको आप लालन-पालन-द्वारा संतुष्ट कीजिए। इससे लाभ भी हुआ।

इस प्रकार दूसरे के दिल को दुखाने से भी हृदय का रोग हो जाता है। उसका उपचार यही है कि फिर से उस व्यक्ति को संतुष्ट किया जाय। वास्तव में हमारा अंतर्मन बड़ा न्यायशील है। उसे हम धोखा नहीं दे सकते। गलती करने पर अंतर्मन हमें अवश्य दण्ड देता है।

———

भाषा और राष्ट्रीय एकता

मनुष्य के सामाजिक जीवन के तीन अंग हैं; वेश-भूषा, भाषा और भाव। जिन लोगों में इन तीनों बातों की समानता रहती है, उनमें आपसी एकता की अनुभूति होती है। जब इस एकता के अनुभव के साथ-साथ समान स्वार्थ और देशकी एकता होती है, तब राष्ट्रीय जीवन मानव-समाज में होता है। ऐसी अवस्था में एक राज्य भी उस जन समुदाय में उपस्थित हो जाता है।

अँग्रेजों का और अँग्रेजी-संस्कृति में पारंगत लोगों का कथन है कि भारतवर्ष में कभी भी राष्ट्रीय एकता नहीं हुई और अँग्रेजी राज्य तथा अँग्रेजी भाषा ने ही भारतवर्ष को एकता का अनुभव कराया। वास्तव में अँग्रेजों के दृष्टि-बिन्दु से भारतवर्ष एक देश नहीं, वरन् एक छोटा महा-द्वीप है, जिसमें राष्ट्रीय जीवन होना सम्भव ही नहीं। इसी विचार-धारा में पले लोग अँग्रेजी भाषा को भारतीय एकता का आधार मानते हैं। ऐसे लोग इस देश की किसी भी भाषा के व्यापक प्रचार को राष्ट्रीय एकता में बाधक मानते हैं।

हम इस सत्य को भुला नहीं सकते कि भारतवर्ष के शासक वर्ग में एकता की अनुभूति अँग्रेजी भाषा ने ही कराई। परन्तु यह कहना कठिन है कि इस वर्ग में राष्ट्रीय भावना कहाँ तक जाग्रत हुई और कहाँ तक है। अँग्रेजी भाषा के साथ-साथ यूरोपीय वेष-भूषा और भाव का प्रचार इस देश में पहिले भी हुआ और अब भी हो रहा है। इसीलिए महात्मा गाँधी ने अँग्रेजी भाषा के बदले हिन्दी भाषा का समर्थन किया था। आज भारतवर्ष में धर्म की असमानता के कारण ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक असमानता के कारण वर्ग-भेद उत्पन्न हो गया है। भारतवर्ष के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपनी शक्ति का बँटवारा गरीब देहातियों के साथ नहीं करना चाहते। वे एक ओर तो जनतन्त्रवाद के पुजारी बने रहते हैं और दूसरी ओर सामान्य जनता के शोषणकी मनोवृति सदा बनाए रहते हैं। इस प्रकार के शोषण और शोषित का भेद भारतवर्ष से तब तक नहीं जाएगा, जब तक इस देश से अँग्रेजी अपना प्रभावकारी स्थान न छोड़ेगी। हिन्दी बोलनेवाले गँवार अवश्य हैं और अँग्रेजी के विद्वान उन्हें गँवार ही बनाए रखना चाहते हैं ताकि वे उनकी मूर्खता से लाभ उठा सकें।

शिक्षा के क्षेत्र में अँग्रेजी के पण्डित अपने लड़कों को विलायती ढंग से चलनेवाले पब्लिक स्कूलों में भेजते हैं और देहाती जनता को चर्खा और तकली चलानेवाले बेसिक स्कूलों में जाने का मार्ग दिखाते हैं। इस प्रकार का कपट-

मैत्री-भावना एवं निर्लिप्तता

अपने मनके सुख और शान्ति के लिए संसार के सभी महान पुरुषों ने मैत्री-भावना के अभ्यास को बड़ा ही उपयोगी बताया है। भगवान बुद्ध ने मैत्री-भावना के अभ्यास के ग्यारह गुण बताये हैं। इस अभ्यास के करनेवालों के मनमें प्रसन्नता रहती है। वह सुख की नींद सोता है तथा उसे भयावने स्वप्न नहीं होते। यदि कोई शत्रु उस पर प्रहार करे, तो उसका प्रहार व्यर्थ जाता है। ये चार प्रमुख फल हैं। मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से मैत्री-भावना का अभ्यास बड़ा ही उपयोगी है। जो व्यक्ति इस अभ्यास को करता है, उसका मानसिक रोग समाप्त हो जाता है। वह अपने लिये तथा दूसरों के लिये उपयोगी बन जाता है। जहाँ अमैत्री-भावना के अभ्यास से कायरता उत्पन्न होती है, वहाँ मैत्री-भावना के अभ्यास से उत्साह एवं वीरता के भाव उत्पन्न होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या हम सभी परिस्थितियों में मैत्री-भावना का अभ्यास कर सकते हैं? यदि मैत्री-भावना का अभ्यास सब परिस्थितियों में ठीक है, तो

व्यवहार जनता से कितने दिनों तक चलता रहेगा? आज भारतवर्षमें अँग्रेजी-जानकारों की एकता राष्ट्रसेवकों की नहीं, वरन् राष्ट्र-शोषकों की एकता है। ये लोग प्रतिदिन उच्च शिक्षा को महँगी और दुर्गम बनाते जाते हैं, ताकि सामान्य जनता इसका लाभ न उठा सके। पुराने पण्डितों को ज्ञान की ठीकेदारी की मनोवृति ने भारतवर्ष की सामान्य जनता को अंधकार में रक्खा। वे अंधविश्वासी विज्ञान विरोधी बन गये और इसके कारण हमारा देश पहले मुट्ठी भर मुसलमानों के द्वारा और फिर मुट्ठी भर अँग्रेजों के द्वारा शोषित रहा। संस्कृत भाषा की जटिलता ने इस भाषा में लिखे ग्रन्थों को सामान्य जनता के लिए दुर्बोध बना दिया। पंडित जन अपना महत्व बढ़ाने के लिए यह चाहते भी थे। भगवान बुद्ध, कबीर और नानक ने इस प्रवृति का विरोध किया और इस प्रकार राष्ट्र में नवजागृति की।

अँग्रेजी के ठेकेदार आज वही काम स्वार्थवश कर रहे हैं। अँग्रेजी केवल भारत की एक प्रतिशत जनता की भाषा है। यदि हम इस भाषा को अपने राष्ट्रीय जीवन में महत्व देते हैं तो हम न केवल जनता का अनादर ही करते हैं, वरन् हम उसे उस ज्ञान से भी वंचित कर देते हैं, जो उन्हें हिन्दी के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय एकता की बात तो दूर रही किसी संघ-जीवन की कल्पना ही नहीं हो सकती।

भगवान बुद्ध ने यह क्यों कहा है कि 'प्रेम ही शोक एवं भय का कारण है'? क्या मैत्री-भाव एवं प्रेम दो वस्तु हैं? इस प्रश्न का उत्तर विचारने पर हमें ज्ञात होता है कि हमारा अधिक मैत्री-भाव का अभ्यास स्वार्थ-भावसे प्रेरित रहता है। जहाँ स्वार्थपरायणता रहती है, वहाँ भय भी रहता है। हमारा अधिकांश मैत्री-भावना का अभ्यास हमारे अचेतन मन में उपस्थित भय अथवा घृणा का आवरण मात्र होता है। जहाँ मैत्री-भावना के अभ्यास का मूल प्रेरक भय रहता है, वहाँ इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य को लाभ न होकर हानि ही होती है। यदि किसी व्यक्ति के प्रति भयवश मैत्री-भावना का अभ्यास किया जाता है, तो वह हमारे प्रति उपेक्षा अथवा घृणा का भाव, उसके मन में उत्पन्न करती है। वह हमारे मैत्री-भावना को हमारी मानसिक दुर्बलता मान लेता है और इसके कारण वह बड़ी दृढ़ता के साथ हमें क्षति पहुँचाने की चेष्टा करता है।

स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित-प्रेम वही परिणाम लाता है, जो भय से प्रेरित मैत्री-भावना का अभ्यास लाता है। दोनों से ही दुःख उत्पन्न होते हैं। अतएव, शुद्ध प्रेम एवं शुद्ध मैत्री-भाव मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं होते; वरन् स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित तथा तज्जनित घृणासे प्रेरित प्रेम एवं मैत्री-भावना के अभ्यास हानिकारक होते हैं।

अब आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपनी स्वार्थ-भावना से मुक्त हो, तभी उसके सद्भाव उसके लिए लाभप्रद होंगे। स्वार्थभाव के छूटने पर मनुष्य में निर्भीकता आती है। भय के अभाव में घृणा नहीं पनपती। ऐसी मानसिक अवस्था में किया गया मैत्री-भावना का अभ्यास किसी भी व्यक्ति के लिये लाभप्रद होता है। इस तरह मैत्री-भावना के अभ्यास के पूर्व आवश्यकता सांसारिक परिस्थितियों में निर्लिप्तता की है। निर्लिप्त पुरुष ही उस मानसिक शांति का उपभोग कर सकता है, जो निर्विघ्न है। मैत्री-भावना का अभ्यास वहीं उपयोगी होता है, जहाँ हम केवल चेतन मन से किसी व्यक्तिसे घृणा करते हैं। मनुष्य के चेतन एवं अचेतन मन के भाव प्रायः एक-दूसरे के विरोधी एवं पूरक होते हैं। जिस मनुष्य के प्रति हमारे चेतन मन में घृणा के भाव हैं, उसीके लिए हमारे अचेतन मन में आकर्षण होता है। यदि हम उससे मुक्त होना चाहते हैं, तो मुक्त होने के बदले और भी उलझनों में फँस जाते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति के प्रति पहले ही हमें मैत्री-भाव के अभ्यास की आवश्यकता रहती है। शत्रु के प्रति किया गया मैत्री-भावना का अभ्यास हमें शत्रु के विचार से ही मुक्त कर देता है। हमें त्रास देनेवाला शत्रु बाहरी शत्रु नहीं है, वरन् शत्रु का चिन्तन करनेवाला अपना मन ही है। इस मन को मैत्री-भावना के

अभ्यास से ही परिवर्तित किया जा सकता है।

उक्त प्रकार के मैत्री-भावना के अभ्यास में हमें यह अपने आपको धोखा देनेकी आवश्यकता नहीं है कि हम पहले से उसके मित्र ही थे। इस प्रकार का धोखा देने से हम शत्रु-भाव को चेतन मन से हटाकर अचेतन मन में डाल देते हैं। कोई भी अशुभ भाव आत्म-स्वीकृति से समाप्त होती है तथा उसे भुला देने की चेष्टा से वह प्रबल होता है। जहाँ आत्म-स्वीकृति के बिना किसी विरोधी व्यक्ति अथवा पक्ष के प्रति मैत्री-भाव का प्रदर्शन किया जाता है, वहाँ विरोधी पक्ष इसे ढोंग मानकर हमसे दृढ़तासे बदला लेने की चेष्टा करता है। शत्रु के प्रति चेतन मन से मैत्री-भावना का अभ्यास करना उपयोगी है। किन्तु इसे हमें निर्लिप्तता प्राप्ति का साधनमात्र ही मानना चाहिए।

हमारे मैत्रीभाव के प्रदर्शन से वही हमसे प्रभावित होता है, जो हमारे इस प्रकार के प्रदर्शन में किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि नहीं देखता। कांग्रेस मुसलमानों का स्नेह इसीलिए नहीं प्राप्त कर सकी कि उसने हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्वराज्य प्राप्ति का साधन माना। मुसलमानों को भय हो गया कि बहुसंख्यक हिन्दू भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात उनपर निरंकुश होकर राज्य करेंगे तथा उनकी सुनाई कहीं नहीं होगी; इसीलिये जितना ही मुसलमानों के प्रति मैत्री-भाव का प्रदर्शन होता गया, उतनी ही घृणा हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के हृदय में बढ़ने लगी; जिसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान, पाकिस्तान एवं हिन्दुस्तान में विभाजित हो गया।

अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से वही मैत्री-भावना का अभ्यास उपयोगी होता है, जो निर्लिप्तता की प्राप्ति के हेतु अथवा निःस्वार्थभाव से प्रेरित होकर किया जाता है। हम तटस्थ रह करके ही दूसरों की सहायता कर सकते हैं। जब हम स्वयं मानसिक उलझन में पड़ गये हैं, तो दूसरों की सहायता करना सम्भव नहीं। स्वार्थी मनुष्य अनेक प्रकार की मानसिक उलझनों में पड़ा रहता है। उसकी दयालुता तथा सेवा भी अति प्रवंचना होती है। वह दूसरे को धोखा देने की भले ही कोशिश नहीं करे, अपने आपको तो अवश्य ही धोखा देता है। दुर्बल मन के मनुष्य स्नेहवश नहीं अपितु भयवश ही दूसरों के प्रति दयालु होते हैं तथा वे अपनी इस दयालुता का वास्तविक कारण भी नहीं जानते। शरीर का दुर्बल मनुष्य भले ही इस कारण को जाने, मन के दुर्बल व्यक्तियों के इस कारण को जानना अत्यन्त कठिन पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मैत्री-भावना वहीं उपयोगी होती है, जहाँ सर्वथा भय अथवा स्वार्थ का अभाव रहता है।

———

हमारे भाग्य का निर्माता कौन ?

हमारे देश में यह विचार बहुत पुराने समय से चला आया है कि मनुष्य का भाग्य एक बनी बनाई चीज है, जिसको बदलने की ताकत मनुष्य में नहीं है। मनुष्य के जीवन में जो कुछ होता है वह उसके भाग्य के अनुसार ही होता है। हिन्दू लोग कहते हैं कि ब्रह्मा ने जो कुछ हमारे भाग्य में लिख दिया है, वह तो होकर ही रहेगा। मुसलमान भी कभी-कभी कहते हैं कि जब तकदीर में नहीं है, तो तदबीर क्या करेगी। रामायण में तुलसीदासजी ने लिखा है—

हुई है सोइ जो राम रुचि राखा। कोकरि तरक बढ़ावै साखा॥

उक्त प्रकार का विचार हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन में घर कर गया है। यह विचार एक ओर मनुष्य को अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट रहने के लिए प्रश्रय देता है परन्तु दूसरी ओर यह मनुष्य को हताश भी करता है और इस प्रकार वह उसे आगे बढ़ने से रोकता है अर्थात् यह उसे निकम्मा बना देता है। जो व्यक्ति जितने ही ज्यादा भाग्यवादी होते हैं, वे अपनी अवस्था सुधारने में उतने ही असफल रहते हैं।

भाग्य-वादिता में कहाँ तक सत्य है इस प्रश्न को हल करना प्रत्येक चिन्तन-शील और प्रगतिशील व्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह प्रश्न एक बड़ा ही गम्भीर प्रश्न है। इस प्रश्न में सभी प्रकार की दार्शनिक समस्याएँ आ जाती हैं। ईश्वरवाद, आध्यात्मवाद, नियतिवाद आदि के प्रश्न हल किए बिना इस प्रश्न का हल करना असम्भव है। परन्तु हम यहाँ पर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करेंगे।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब हम देखते हैं, तो हम भाग्यवादिता के सिद्धान्त को एक प्रकार का मानसिक रोग पाते हैं। जिस मनुष्य की इच्छाशक्ति जितनी ही दुर्बल होती है, वह उतना ही भाग्यवादी होता है। जब मानसिक रोगी किसी उलझन में पड़ जाता है और उससे निकलने का कोई मार्ग नहीं देखता, तो वह अपनी उलझन को भाग्य के सिर न मढ़े तो और जिसके मढ़े! इससे मनुष्य को एक प्रकार का आत्म-सन्तोष होता है। अपनी कठिनाइयों से मुक्त होने के प्रयत्न से वह मुक्त होने का अनुभव करने लगता है। जब किसी प्रकार की कठिनाई को हम ईश्वर की देन अथवा भाग्य की देन मान लेते हैं, तो हमें उसे हल करने की जिम्मेदारी का अनुभव नहीं होता। पलायनवादी व्यक्ति

भाग्यवादी होता है। अपनी कमजोरी को भाग्य के सिर मढ़कर हम किसी प्रकार की भूल से मुक्ति का अनुभव करने लगते हैं।

लेखक के एक मित्र अपनी किसी कामचेष्टा सम्बन्धी भूल के कारण प्रायश्चित के रूप में संन्यासी बन गए। संन्यासी होने पर उन्हें बीच-बीच में आत्मग्लानि होती थी कि संन्यास लेकर उन्होंने अपनी विवाहिता स्त्री के प्रति अत्याचार किया। उन्होंने विवाह के छः महीने बाद ही संन्यास ले लिया था। इनसे पत्र-व्यवहार करते समय पता चला कि वे बड़े ही तार्किक हैं और किसी भी दर्शन की बातों को अकाट्य प्रमाण नहीं मानते। यदि वे किसी बात को मानते हैं, तो ज्योतिष की। उनके पैदा होने के समय जो जन्मपत्री बनी थी उसमें यह लिखा था कि उस बच्चे को विवाह-योग नहीं है। इस बात को वे ज्योतिष की सत्यता के प्रमाण के रूप में पेश करते थे अर्थात् जो जन्म-कुण्डली में लिखा था, वह होकर रहा।

जब उक्त मनोवृत्ति की हम छानबीन करते हैं, तो हम उस सिद्धान्त को पकड़े रहने का भाव आत्म-रक्षा की ढाल के रूप में पाते हैं। यदि वे अपनी स्त्री के प्रति अत्याचार को भाग्य के सिर न मढ़ें, तो उन्हें अपने पाप की इतनी आत्म-ग्लानि हो कि उसके कारण उन्हें आत्महत्या ही करनी पड़े। ऐसे ज्योतिष की बहुत सी बातें सत्य इसलिए भी घटित हो जाती हैं कि वे ज्योतिष में विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए आत्म-निर्देश बन जाती हैं। जो मनुष्य जितने ही दुर्बल मन का होता है, वह ज्योतिष में उतना ही विश्वास करता है। ज्योतिष में विश्वास करनेवाला व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की राय नहीं मानता। वह बड़ा ही हठी होता है। अपनी हठ के कारण कुछ समय तक वह बहुत बढ़ता है। परन्तु अन्त में वह इसी विश्वास के कारण नष्ट हो जाता है। लक्ष्मणसेन अपने ज्योतिष के विश्वास के कारण यह हिम्मत ही न कर सके कि बख्तियार खिलजी के अट्ठारह घुड़सवारों से लड़ सकें। ज्योंही ये घुड़सवार एक दरवाजे से घुसे त्यों ही लक्ष्मण सेन दूसरे दरवाजे से भाग गए। उस समय उनके पास दस हजार सेना थी। कहा जाता है कि हिटलर भी ज्योतिष में अटूट विश्वास करता था। इस विश्वास के कारण वह अपने जनरलों की सलाह न मानकर स्वतः ही सब निर्णय करता था। डनकर्क की लड़ाई के बाद अँग्रेज इतने हताश हो गए थे कि यदि हिटलर तुरन्त ही इङ्गलैण्ड पर आक्रमण कर देता, तो जर्मनी पूरे पश्चिमी योरोप का मालिक बन जाता। अँग्रेजों के पास इस समय कोई मित्र ही नहीं रह गया था। उनके लड़ाकू वायुयान तैयार न थे और जर्मनी के पास फौज उतारने के लिए काफी वायुयान थे। जर्मन जनरलों की यह इच्छा भी थी

कि वे तुरन्त ही इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करें परन्तु हिटलर तो ज्योतिष में विश्वास करता था। इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करने के लिए वह खास नक्षत्रों के योग की खोज में था। यह योग कभी न हुआ और जर्मनी की डनकर्क की विजय का अन्त हार में हुआ।

उपर्युक्त उदाहरण से यह पता चलता है कि भाग्यवादी लोग कितने अभागे होते हैं। बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति ने यदि ज्योतिष में विश्वास करनेवालों की गणना महामूर्खों में की है, तो उसने अतिशयोक्ति नहीं की है। जो मनुष्य अपने भविष्य को सुधारना चाहता है, उसे पहली आवश्यकता यह है कि वह भाग्य-वादिता को एक भयानक मानसिक रोग समझकर उससे मुक्त हो। मनुष्य अपने विषय में जैसा नित्यप्रति सोचता है, वैसा ही बन जाता है। अँग्रेजी में कहावत है He can who thinks he can (अर्थात् जो सोचता है कि मैं कर सकता हूँ वह अवश्य कुछ कर सकता है।) वास्तव में भाग्य में विश्वास करना आत्मा की सर्वशक्तिमानता में अविश्वास करना है। यदि जड़वादी लोग नियतिवाद में विश्वास करें और इसलिए भाग्यवादी बन जायँ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, परन्तु जब अध्यात्मवादी और अनियतिवादी भाग्यवादी बनते हैं, तो यह एक प्रकार का कौतूहल का ही विषय है। अध्यात्मवाद स्वतंत्रता-वाद है। और वह स्वतन्त्रता कैसी जिसमें हम भाग्य से बँधे हैं? आश्चर्य तो यह है कि जड़वादी योरोप तो पुरुषार्थवाद में विश्वास करता है और अध्यात्म-वादी भारत भाग्य में।

अब दार्शनिक पहलू पर भी यदि हम विचार करें, तो हम भाग्यवादिता में इतना ही सत्य पाते हैं कि हमारी पुरानी क्रिया के संस्कार वर्तमान चेष्टाओं के कारण बन जाते हैं। यह इसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार वर्तमान क्रिया के संस्कार भविष्य की चेष्टाओं के कारण बनते हैं। हमारे पुराने विचार और क्रिया के संस्कार हमारे अचेतन मन में उपस्थित रहते हैं। वास्तव में मनुष्य का अचेतन मन इन सब का आगर है और यही भाव, विचार और क्रियाएँ हममें विशेष प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करती हैं तथा विशेष प्रकार की वाह्य परिस्थिति का निर्माण कर देती हैं, जिसके कारण हम बन्धन में पड़े हुए जीव के समान काम करते हैं। वास्तवमें बन्धन में डालनेवाला तत्व हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं है। हमारा अचेतन मन ही वह ईश्वर है, जो हमें जीवन में सफलता-असफलता देता है और विशेष प्रकार की परिस्थितियों में डालता है। यह अचेतन मन ऐसे ही संस्कारों को बना सकता है, जो किसी समय चेतनावस्था में भी थे। यह अचेतन मन अपने आप परिवर्तित होता है

और प्रयत्न के द्वारा भी इसे परिवर्तित किया जा सकता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने अचेतन मन को जानता है वह उसे परिवर्तित करने में उतना ही अधिक समर्थ होता है। संसार की घटनाएँ इस अचेतन मन की इच्छा की पूर्ति करती हैं। यह हमारे चेतन मन की इच्छा के अनुसार सब समय नहीं होती, इसलिए ही हम कहा करते हैं कि भाग्य ही अन-चाही घटनाओं को घटित करता है।

वास्तव में भाग्य का निर्माता मनुष्य का अचेतन मन है। संसार इस अचेतन मन के सापेक्ष है। जिस मनुष्य ने इस मन का जितना अधिक ज्ञान किया है और जो इस ज्ञान को प्राप्त करके उसे उचित ढंग से चलाने में जितना ही अधिक समर्थ हुआ है, वह अपने भाग्य पर उतना ही अधिक अधिकार प्राप्त कर लेता है। मनुष्य में वह शक्ति है जिससे वह अचेतन मन को जान सकता है और उसमें परिवर्तन कर सकता है और इस तरह वह अपने भाग्य का नव-निर्माण कर सकता है।

परन्तु यह कार्य यकायक नहीं होता। जो मनुष्य भाग्य का निर्माता बनाना चाहता है, उसे इच्छाओं का दास न बनकर इच्छाओं का स्वामी बनना पड़ता है। इच्छाओं का स्वामी वही व्यक्ति होता है, जो जीवन का परम पुरुषार्थ इच्छाओं की पूर्ति करना न मानकर इच्छाओं का जीतना परम पुरुषार्थ मानता है। इस इच्छा विजय से मनुष्य को आत्मज्ञान अपने आप ही होता है। सच्चा आत्मज्ञान ही इस तरह अपने भाग्य का निर्माता होता है।



उन्नति का सर्वश्रेष्ठ मंत्र

"स्वधर्मे निधनम्श्रेयः, परधर्मो भयावह"

मानव-जीवन असन्तोषमय वस्तु है। जिस व्यक्ति को सन्तोष है, वह या तो देव-कोटि का व्यक्ति है या जड़-पाषाण। प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर एक ऐसी ज्वाला वर्तमान है, जो उसे एक स्थिति में शान्तिपूर्वक ठहरने नहीं देती। वह उसे अपनी उन्नति करने के लिए सदा प्रेरणा देती रहती है। मनुष्य का पहिला कर्तव्य इस अन्तरात्मा की माँग को पूरा करना है। जो इस माँग की अवहेलना करता है, वह अपने जीवन को पशु से भी निकृष्ट बना देता है।

हम सभी प्रगति करना चाहते हैं। परन्तु हम यह नहीं जानते कि किस ओर हम प्रगति करें तथा हम किन कामों को करके समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण कर सकते और अपना जीवन सफल बना सकते हैं। यदि हम अपने पास बैठे हुए दस-पाँच विद्वानों से यह प्रश्न पूछें कि किसी एक नवयुवक को अपने जीवन को सफल बनानेके लिए वर्तमान समय में क्या करना चाहिए, तो हमें भिन्न-भिन्न उत्तर मिलेंगे। कुछ लोग कहेंगे कि उसे विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि आधुनिक युग में विज्ञान को जाने बिना कोई भी व्यक्ति सम्मान-पूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकता है और राष्ट्र को कोई मौलिक देन नहीं दे सकता है। कुछ कहेंगे कि विज्ञान केवल बौद्धिक व्यापारों में पड़ी रहनेवाली वस्तु है। मनुष्य को हाथ के काम सीखना चाहिए। आधुनिक युग मजदूरों का युग है। आज जो व्यक्ति शारीरिक श्रम से जी चुराएगा, वह जी भी नहीं सकेगा। कुछ दूसरे लोग कहेंगे कि नवयुवकों को टेकनोलाजी में निपुणता प्राप्त करनी चाहिए। टेकनोलाजी में बुद्धि और हाथ दोनों का ही समुचित उपयोग होता है। टेकनोलाजीमें पिछड़ा हुआ राष्ट्र कदापि समृद्ध और स्वतंत्र नहीं रह सकता।

कुछ दूसरे विद्वान देशको उन्नतिशील बनाने के दूसरे ही मार्ग बताएँगे। विज्ञान से हृदय की शुद्धि नहीं होती और टेकनोलाजी मनुष्य को केवल कारीगर बना देती है। उनके कथनानुसार ये शिक्षाएँ, तो शिक्षाएँ ही नहीं हैं। आजीविका उपार्जन के लिए शिक्षा ग्रहण करना अपनी मानवोचित कर्तव्यों को भुलाना है। अतएव प्रत्येक नवयुवक को मानव-स्वभाव को समझने और उसकी संस्थाओं का ज्ञान कराना चाहिए। इसके लिए नवयुवक को इतिहास, दर्शन, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि का ज्ञान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके हृदय की शुद्धि के लिए संगीतकला और साहित्य का ज्ञान कराना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि जो उपर्युक्त प्रगति के मार्ग हैं, उसमें से किसको चुनें। जब नवयुवक कालेजमें प्रवेश पाना चाहता है, तो उसके सामने उक्त जटिल प्रश्न रहते हैं। इन प्रश्नों का हल ढूँढ़ने के लिए वह जितना यत्न करता है, ये उतने ही जटिल होते जाते हैं। वह जानता नहीं है कि इनका हल कैसे ढूँढ़ा जाए। इस प्रकार के प्रश्नों को हल करने का एक सर्वोत्तम सुझाव महर्षि व्यास ने भगवत गीता में रक्खा है। उन्होंने भारतवर्ष का आदर्शमार्ग कृष्ण से अर्जुन को कहलवाया है कि अपनी उन्नति करने के लिए मानव के सामने अनेक प्रकार के मार्ग हैं, परन्तु उसे इन जंजालों में न पड़कर उसी मार्ग को ग्रहण करना चाहिए, जो उसके स्वभाव के अनुसार हो—अर्थात् उसकी योग्यता और आकांक्षाओं के अनुसार सुलभ हो। यदि ऐसा मार्ग कठिन भी दिखाई पड़े, तो भी उसे उसी को चुनना चाहिए। मानव अपनी पूर्णता किसी प्रकार भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु किसी विशेष मानव के लिए उन्नति का एक ही मार्ग खुला रहता है। वह मार्ग ऐसा ही होता है, जो उसके गुण, शील, कर्म और योग्यता के अनुसार होता है। यही उसका स्वधर्म है। अपने आपको समझे बिना अपने कल्याण का मार्ग खोज लेना असम्भव है। बिना अपने को समझे दूसरों का अनुकरण करने लग जाना अपना विनाश करना है। इससे मनुष्य अपनी मौलिक प्रतिभा को खो देता है और आत्म-भर्त्सना के अभिशाप से पीड़ित होकर दिन-प्रति-दिन नीचे की ओर गिरते जाता है।

जो बात महर्षि व्यास ने आत्मोन्नति के लिए बताई है, वही बीसवीं शताब्दी के इङ्गलैंड के सर्वोच्च शिक्षा-विशारद टी० पी० नन ने अपनी 'एजुकेशन' नामक पुस्तक में कहा है कि मनुष्य समाज का हित अधिक-से-अधिक तभी कर सकता है, जब वह अपने व्यक्तित्व के गुणों की अभिवृद्धि अधिक-से-अधिक करे और अपने ही ढंग से समाज-सेवा में लगे। दूसरों का अनुकरण आत्मोन्नति में उतनी ही दूर तक सहायता करता है, जहाँ तक वह स्वतः की प्रतिभा को विनष्ट नहीं करता। जब दूसरोंके अनुकरण से मनुष्य को अपनी प्रतिभा दब जाती है, तब वह उसमें निकम्मा बन गया। दूसरों का अंधानुकरण मनुष्य की आत्म-स्फूर्त्ति और कार्य-क्षमता को समाप्त कर देता है। मनुष्य उसी काम को करने में अपनी अन्तरात्मा से शक्ति प्राप्त करता है, जिसे वह अपना विशेष काम समझता है, जिसके विषय में उसकी धारणा होती है कि उसी काम को करने के लिए वह संसार में आया है और उसको किए बिना उसका जीवन अर्थ-हीन है।

टी० पी० नन के उक्त विचारों का समर्थन हम अमेरिका के महान अध्यात्मिक चिन्तक एमर्सन के विचारों में पाते हैं। एमर्सन का कथन है कि संसार में

महान बनने के चाहे जितने मार्ग क्यों न प्रस्तुत हों, मनुष्य अपने उस विशेष काम को करके ही महानता प्राप्त कर सकता है, जो उसके स्वभाव के अनुरूप है। हमारा अपना विशेष कार्य-क्षेत्र ही दूसरों की दृष्टि में चाहे कितना भी अनाकर्षक क्यों न हो और दूसरों का कार्य-क्षेत्र चाहे कितना भी आकर्षक क्यों न हो; हम संसार की मौलिक सेवा अपने विशेष काम को करके ही कर सकते हैं। महात्मा गाँधी ने तपस्वी बनकर संसार में ख्याति पाई। भारतवर्ष को उनकी मौलिक देन तपस्यावादी मनोवृत्ति है। उन्होंने भारतवर्ष की राजनीति में सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग सफलता पूर्वक किया, परन्तु महात्मा गाँधी का अनुकरण करनेवाले व्यक्ति महात्मा गाँधी नहीं बन जाते। जब दूसरे लोग सत्याग्रह का प्रयोग करते हैं, तो उससे प्रायः समाज का हित न कर, अहित ही करते हैं और उनका यह कार्य निन्दनीय हो जाता है। नेहरू और बोस ने राजनीति में भाग लेकर भारतवर्ष को अपनी मौलिक देन दी है। उन्होंने नवयुवकों में आत्म-विश्वास की जाग्रति की है और भारतवर्ष को दुनिया के सभ्य देशों में प्रतिष्ठित स्थान दिलाया है। टगोर ने साहित्य और कविता के निर्माण से, मालवीय जी ने सामाजिक संस्थाओं और विद्यालयों का निर्माण करके देश की मौलिक सेवा की, जगदीशचन्द्र बोस और रमन ने विज्ञान के द्वारा भारतवर्ष को ऊँचा उठाया और उदयशंकर ने अपनी नृत्य-कला से ही संसार को विस्मित किया।

उपर्युक्त महानता के उदाहरण हमें यह बताते हैं कि मनुष्य समाज की सर्वोच्च कोटि की सेवा करने में तभी समर्थ होता है और आन्तरिक शान्ति तभी प्राप्त करता है, जब वह अपने स्वभाव की अवहेलना न कर उसका आदर करता है और अपनी विशेष प्रतिभा से ही समाज की सेवा करने की चेष्टा करता है। परमात्मा एक और सच्चिदानन्द रूप है, परन्तु वह अनेक व्यक्तियों में अनेक रूप से प्रकाशित होता है। रूपों की अनेकता बनाए रखते हुए जो एकता की अनुभूति करता है, वही मानव-जाति का अधिक-से-अधिक हित करता है। पूर्णता प्राप्ति के मार्ग अनेक हैं। किसी भी मार्ग पर आखिर तक चलते-चलते हम पूर्णता तक ही पहुँचते हैं। पूर्णता तक पहुँचने के लिए हमारा एक विशेष मार्ग होता है। इस मार्ग पर चलने में हम दूसरों के उदाहरण से लाभ अवश्य उठा सकते हैं; परन्तु जब हम उनका केवल अनुकरण ही करने लग जाते हैं, तो हम अन्तरात्मा के उस आशीर्वाद को खो देते हैं, जिसके रहने पर ही हम गन्तव्य को प्राप्त कर सकते हैं। अतएव यदि हम अपने को उन्नत और सुखी बनाना चाहते हैं, यदि हम अपने आपमें कृत्यकृत होना चाहते हैं और समाज के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बनना चाहते हैं, तो यह नितान्त आवश्यक है कि हम

अपने स्वभाव को अच्छी तरह से समझें और स्वभाव की अदृश्य बातों को जानकर अपना गन्तव्य तथा मार्ग-निर्धारित करें।

अपने स्वभाव को पहिचानने में मनोविज्ञान का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। दूसरे हमें अपनी विशेष परिस्थिति, संस्कृति और जीवन-धारा को जानना चाहिए। अर्थात् आत्म-ज्ञान और इतिहास के आधार पर ही अपने कर्तव्य और आत्मोद्धार का मार्ग निश्चित कर सकते हैं। अपनी विशेषता को भुलाकर, अपने इतिहास के तत्त्वों को दृष्टि से ओझल करके कोई भी व्यक्ति वा राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता। उसमें वे चरित्र के गुण और कार्य-क्षमता आ ही नहीं सकती, जो उसके द्वारा विस्मय-जनक काम कराने में सफल होते हैं। अपने स्वभावानुकूल काम करना सबको सुलभ होता है। इसीलिए मनुष्य अपने ही काम में अधिक-से-अधिक उन्नति कर सकता है। दूसरों के काम का अनुकरण अपने स्वभाव से हमें अलग करता है। इससे हम अपने आपको खो देते हैं। फिर हमारा आत्म-प्रसार नष्ट हो जाता है और सभी प्रकार से हम नीचे गिर जाते हैं। यदि हम भौतिक दृष्टि से आगे भी बढ़ गए, तो अध्यात्मिक दृष्टि से दिवालिया बन जाते हैं। अध्यात्मिक दिवालयापन भौतिक समृद्धि को थोड़ी ही काल में समाप्त कर देता है। यही कारण है कि संसार के सभी महर्षियों ने होनहार नवयुवकों और शिक्षा-शास्त्रियों को उपदेश दिया है कि स्वधर्म को पहिचान कर ही वे आत्मोन्नतिके कार्य में अपनी विशेष प्रतिभाके अनुसार लगें।

मनुष्य की अन्तरात्मा की छाया ही ईश्वर है

संसार में ईश्वर का विचार अनादिकाल से चला आया है। जब से मनुष्य में सोचने की शक्ति आई, तब से उसने ईश्वर को माना है। बर्बर जाति के लोग भी अपने से बड़े किसी देवी देवता आदि को मानते हैं। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, तैसे-तैसे इन अनेक देवी-देवताओं में एकता आती जाती है। यूनान देश के निवासियों के सैकड़ों देवता थे। उन देवताओं में एक देवता प्रधान मान लिया गया था। पौराणिक हिन्दुओं के भी ३३ करोड़ देवता हैं। उनमें मानव जैसा ही संगठन है और एक देवता प्रधान है। जैसे-जैसे विचार का अधिकाधिक विकास होता है, इन देवरूपी शक्तियों का समावेश एक में ही हो जाता है। कृष्ण, ईसा और मुहम्मद ने केवल एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया। यही संसार को चलाता है और मनुष्यों के सुख-दुख को नियमित करता है। जब हम ईश्वर के अस्तित्व को वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं, तो उसे कहीं नहीं पाते। ईश्वर का विचार अवैज्ञानिक भोले-भाले लोगों में ही पाया जाता है। जब मनुष्य चिन्तनशील हो जाता है, तो वह इस प्रकार के विचार से मुक्त हो जाता है। प्रायः देखा गया है कि ईश्वर में विश्वास करनेवालों की अपेक्षा अपने पुरुषार्थ में विश्वास करनेवाले व्यक्ति अधिक प्रगतिशील होते हैं। ये लोग ईश्वर या देवी-देवता में विश्वास करने-वाले लोगों की धर्मान्धता से लाभ उठाते हैं और उनपर शासन करते हैं। इस प्रकार योरोप की विज्ञान-प्रधान जातियों ने एशिया की मजहब परायण जातियों पर सैकड़ों वर्ष राज्य किया। जब एशिया के जातियों में भी वैज्ञानिक विचार प्रचलित हो गया, तो योरोप के लोगों को यहाँ से हट जाना पड़ा।

मनोविज्ञान के अनुसार ईश्वर मनुष्य की कल्पना जन्य पदार्थ है। फ्रायड महाशय का कथन है कि ईश्वर का विचार मानव-जाति में व्यापक मानसिक दुर्बलता का परिणाम है (Religion is the generel psychoneurosis of the race)। जिन लोगों में जितना ही अधिक मानसिक दुर्बलता होती है, वे उतने ही धर्मपरायण और अन्धविश्वासी होते हैं। ऐसे लोगों को धर्मविश्वासों से उसी प्रकार सरलता से मुक्त नहीं किया जा सकता जिस तरह हिस्ट्रीरिया के रोगी को भूत-प्रेत की भावना से मुक्त नहीं किया जा सकता। यदि किसी हिस्टीरिया के रोगी को विलक्षण कल्पनाओं से बिना उसके मानसिक विच्छेद को हटाए मुक्त कर दिया जाय, तो उसका रोग

कम न होकर और जटिल बन जाता है। हिस्टीरिया को समाप्त करने के लिये एक कुशल मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कुशल मनोवैज्ञानिकों की आवश्यकता मनुष्यों को मजहब से मुक्त करने की है। फ्रायड का विचार था कि जैसे-जैसे समाज में वैज्ञानिक विचार—विशेष कर मनोवैज्ञानिक विचार फैलेगा, तैसे-तैसे मानव-जाति अपने समस्त अन्धविश्वासों से मुक्त हो जायगी।

टेन्सले अपनी 'न्यू सायकोलाजी' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि बाइबिल कहती है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिमूर्ति के रूप में बनाया है। आधुनिक मनोविज्ञान बतलाता है कि मनुष्य ने ईश्वर को अपनी प्रतिमूर्ति के रूप में बनाया है। टेन्सले के उक्त कथन में बहुत कुछ सत्य है। परन्तु ईश्वर मनुष्य के चेतन मन की कृति नहीं है, अर्थात् वह उसकी कल्पना मात्र नहीं है। ईश्वर का विचार मनुष्य के अचेतन मन का कार्य है। जो कार्य चेतन मन का होता है उसे चेतन मन समाप्त कर दे सकता है, अचेतन मन के कार्य को चेतन मन हठात् समाप्त नहीं कर सकता। जब इस प्रकार अचेतन मन के कार्य को चेतन मन समाप्त करने की चेष्टा करता है, तो मनुष्य के दोनों मनों में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और फिर विक्षिप्तता के लिये दरवाजा खुल जाता है। मनुष्य ईश्वर को केवल इसीलिये नहीं मानता कि वह उससे धन और बल की आशा करता है; वरन् वह इसलिये मानता है कि उसे एक ऐसे साथी की आवश्यकता होती है, जो उसे सब समय सहायता कर सके। अचेतन मन की इस माँग की अवहेलना करने से वह बेचैन हो जाता है। फिर यही बेचैनी अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों में प्रकाशित होती है। प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी साथी के प्रेम का इच्छुक होता है। इस प्रेम की पूर्ति से ही मनुष्य में आत्मविश्वास होता है और काम की शक्ति आती है। संसार के साथी कुछ दूर तक अचेतन मन के इस माँग को पूरा करते हैं, परन्तु किसी-न-किसी समय मनुष्य को अपने लौकिक साथी से भारी असन्तोष हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि उसे किसी अलौकिक साथी की उपस्थिति में विश्वास न हो, तो वह अधीर होकर पागल हो जाता है। पागलपन मन की अधीरता की अवस्था ही है। जब मनुष्य को फिर से धैर्य आ जाता है, तो पागलपन समाप्त हो जाता है। ईश्वर का विचार मनुष्य को इस अधीर बनने की अवस्था में नहीं लाता। इसलिये ही संसार के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक चार्ल्स युंग ने कहा है कि धर्म मनुष्य को पागलपन से बचाता है। कोई भी मानसिक रोगी तबतक पूर्ण स्वस्थ नहीं होता, जब तक उसे यह विश्वास नहीं

होता कि कोई न्याय-प्रिय तत्व इस संसार का संचालन कर रहा है और जिस व्यक्ति को इस प्रकार का विश्वास होता है, उसे मानसिक रोग ही नहीं होते। इस प्रकार देखने से धर्म-विक्षिप्तता का द्योतक न होकर विक्षिप्तता का निवारक है।

फिर प्रश्न उठता है कि वास्तव में क्या ईश्वर कोई स्वतन्त्र सत्ता है, अथवा यह केवल मनुष्य की कल्पनामात्र है? यदि वह केवल कल्पना है, तो ऐसी कल्पना कैसे मनुष्य को आपत्तिकालमें धैर्य दे सकती है। इस प्रश्न के उत्तर में हमें उपनिषद की शिक्षा को ध्यान में लाना होगा। उपनिषद में बतलाया गया है कि जिस परमतत्व की हम खोज करते हैं, वह हमारी आत्मा ही है। इस आत्मा को सच्चिदानन्द कहा गया है। अर्थात् वह शक्तिरूप, ज्ञानरूप और अत्यन्त सुखरूप है। जैन दर्शन में पुद्गल के भी यही लक्षण पूर्णता की अवस्था में बतलाये हैं। भगवान बुद्ध ने जो निर्वाण की अवस्था की कल्पना की है वह अत्यन्त आनन्द रूप है। जब मनुष्य स्वरूपोन्मुख होता है, तो उसे ईश्वर के विचार की आवश्यकता नहीं होती। वह पूर्णता की खोज अपने से बाहर न कर अपने भीतर ही करता है। परन्तु जबतक मनुष्य अन्तर्मुखी नहीं बनता, तबतक उसे अपने मानसिक स्वास्थ्य के रक्षार्थ किसी एक ऐसे महान तत्व की उपस्थिति में विश्वास करना पड़ता है, जो उसका परमस्नेही है। भगवान बुद्ध-ने धर्म के लिये ईश्वर के विचार को अनावश्यक बतलाया है। परन्तु बौद्ध धर्मको माननेवाले लोगों ने भगवान बुद्ध को ही ईश्वरत्व प्रदान कर दिया। जिस प्रकार हिन्दू राम की शरण में जाते हैं उसी प्रकार बौद्ध भगवान बुद्ध की शरण में जाते हैं।

क्या यह शरणागत का भाव व्यर्थ है? क्या इससे मनुष्य का कोई कल्याण नहीं होता? हमारा अनुभव बतलाता है कि शरणागत के भाव से आन्तरिक शान्ति और शक्ति का अनुभव होता है और इस तरह वह हमें पागलपन से बचाता है। फिर इस शरणागत का अर्थ क्या है? इसका अर्थ अवश्य ही किसी ऐसे तत्व की शरण में होना है, जिसका वास्तविक अस्तित्व है। यह तत्व मनुष्य की आत्मा ही है। इसका ज्ञान मनुष्य की बहिर्मुखी बुद्धि को होना अत्यन्त कठिन है। बहिर्मुखी दृष्टि रहने पर या तो हम उसे ईश्वर के रूप में पहचानेंगे अथवा उसके अस्तित्व की कल्पना को ही व्यर्थ मानेंगे। अन्तर्मुखी बनने पर मनुष्य यह जान लेता है कि वह जो कुछ सोचता है, वह स्वयं ही है। जिस प्रकार वह अपनी कमी को दूसरे लोगों पर आरोपित करता है, उसी प्रकार वह अपनी महानता को किसी कल्पना पर आरोपित कर लेता है।

वास्तव में मनुष्य की आत्मा इसके शरीर के किसी भाग में नहीं है; अर्थात्

शरीर आत्मा के भीतर है। जब कोई कहता है कि आत्मा को अपने में देखो तो इसका अर्थ प्रायः लगाया जाता है कि शरीर के भीतर हम देखें। वास्तव में यह अर्थ, अनर्थ है। बाहर और भीतर देह के सम्बन्ध से सार्थक शब्द बनते हैं। साक्षी मात्र के लिये निरर्थक हैं। आत्मदर्शन का मतलब अपने आपको सबमें देखना और सबको अपने में देखना है। जब मनुष्य अपने आपको इस प्रकार का व्यापक तत्व पहचान लेता है, तो इसकी छोटे और बड़े की कल्पना समाप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में ईश्वरीय विचार की आवश्यकता नहीं रहती। धर्म इसी अवस्था में ले जाने का साधन है। जब तक इस अवस्था का हमें ज्ञान नहीं हुआ, तब तक हम इसे अपने से भिन्न के रूप में देखकर अपना कल्याण करते हैं। यदि हम ऐसी अवस्था को न तो अपने बाहर न अपने भीतर देखें, तो हमारे पास कोई ऐसा लक्ष्य ही नहीं रह जायगा जिसकी ओर हम बढ़कर पूर्णता की प्राप्ति करें। जो लोग पूर्णता को अपने से बाहर देखते हैं, वे ही ज्ञानवृद्धि होने पर उसे अपने भीतर देखने लगते हैं, अर्थात् वे उसे अपने स्वरूप के रूप में पहचानते हैं। परन्तु जो इसे कहीं नहीं देखते, वे पूर्णता की ओर बढ़ ही कैसे सकते हैं? ऐसे लोग संसार के अनित्य सुखों में ही अपने मन को रमाए रखते हैं, और अनेक प्रकार के कष्टों को झेलते रहते हैं।



रोग का आवाहन

आधुनिक मनोविज्ञान के अध्ययन से पता चला है कि मनुष्य के अधिक रोग उसके अचेतन मन के द्वारा चाहे हुए होते हैं। जब मनुष्य की कोई ऐसी इच्छा की पूर्ति नहीं होती, जो उसके भीतरी मन में घर कर चुकी है तब वह जीवन के प्रति ही निराश हो जाता है। फिर उसे अपने आस-पास के वातावरण में आनन्द नहीं दिखाई देता, उसे किसी काम में रस का अनुभव नहीं होता, परन्तु लोक-लाज वस उसे समाज के अनेक कामों में भाग लेना ही पड़ता है। समाज और उस व्यक्ति की कर्तव्य बुद्धि उसे बैठा नहीं रहने देती। वह उसे उन कामों में पड़ने के लिये बाध्य करती है, जिसे वह भीतरी मन से नहीं चाहता। ऐसी अवस्था में वह रोग का आवाहन करता है। रोग उसे एक प्रकार का मिथ्या आत्मसन्तोष देता है। उसके कारण वह अपनी नैतिक बुद्धि की प्रतारणा से बच जाता है तथा समाज में अपना सम्मान बचाये रखता है।

जिन लोगोंका भीतरी मन रोग को चाहता है उन्हें जब एक प्रकार के रोग से मुक्त कर दिया जाता है, तो वे दूसरे प्रकार के रोग को पकड़ लेते हैं। वे अपने मन में सदा रोग की कल्पना ही करते रहते हैं। वातावरण में फैले हुए जब किसी संक्रामक रोग की वे खबर सुनते हैं, तो उन्हें भय हो जाता है कि कहीं उन्हें ही यह रोग न हो जाय। इस प्रकार रोग से अत्यधिक भय करनेवाले लोग वास्तव में रोग का आवाहन करते रहते हैं। इस प्रकार के रोगग्रस्त व्यक्ति अपने रोग को सच्चा रोग मानते हैं। यदि उनसे कह दिया जाय कि उनका रोग कल्पित है अथवा उनके भीतरी मन के द्वारा चाहा हुआ है, तो वे अत्यन्त दुःखी हो जायेंगे। इस प्रकार की बात कहनेवाले व्यक्ति को ये अपना शत्रु मानेंगे। देखा गया है कि जिन लोगों का आन्तरिक मन रोग चाहता है, वे सामान्य चिकित्साप्रणाली से कोई लाभ नहीं उठाते। ऐसे लोग प्रायः प्राकृतिक चिकित्साप्रणाली की शरण लेते हैं। बहुत दिन तक प्राकृतिक चिकित्सा कराने के पश्चात् उन्हें कुछ लाभ अवश्य होता है और इस प्रकार इस चिकित्साप्रणाली में उनका विश्वास बढ़ जाता है, परन्तु जब तक उनके भीतरी रोग का अर्थात् मानसिक असन्तोष का उपचार नहीं होता, तबतक उनका रोग जड़ से नहीं जाता। प्राकृतिक चिकित्सा प्रायः रोग को पोसे रखने का एक उपाय ही बन जाता है। देखा गया है कि बहुत से प्राकृतिक चिकित्सा-गृहों में उपचार करानेवाले रोगी प्रधानता मानसिक रोगी होते हैं।

हमारे उपचार में आये हुए अनेक नवयुवकों की जीवनी के अध्ययन से पता चला कि उन्हें अपने जीवन से भारी असन्तोष था। जब तक उनका यह असन्तोष नहीं गया, तबतक उन्हें आरोग्य प्राप्त नहीं हुआ। मनुष्य रोग को अपने इस असन्तोष को भुलाने के लिये पकड़ लेता है। इस प्रकार उसका असन्तोष रूपान्तरित हो जाता है। वह अपने मानसिक दुःख को शारीरिक दुःख में परिवर्तित कर लेता है। यदि वह ऐसा न करे, तो वह अपने मानसिक दुःख के कारण संभवतः अपनी हत्या ही कर डाले। इस प्रकार उसका रोग उसके प्राण की रक्षा करता है, परन्तु यह रक्षक स्वयं निरापद नहीं है। यह रोगी को दुःख देता ही रहता है। जब रोगी का भीतरी मन रोग द्वारा दिये गये दुःख से ऊब जाता है तब वह उसे छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। तब रोगी किसी प्रकार की सीख मानने के लिये तैयार होता है।

रोगी व्यक्ति अपनी दर्दनाक बातों को सदा भुलाये रखने की चेष्टा करता है। वह इनके बारे में किसी से बात-चीत नहीं करना चाहता। इस प्रकार रोग का कारण छिपा रहने से रोगी का रोग सुरक्षित बना रहता है। जिस व्यक्ति की आत्मप्रतिष्ठा की भावना जितनी ही प्रबल होती है, उसका रोग उतना ही प्रबल होता है तथा उसका रोग उतना ही सुरक्षित रहता है। बहुत दिन तक दुःख उठाने के कारण आत्मप्रतिष्ठा की भावना स्वयम् ही कम हो जाती है, तब रोगी अपने हृदय के गुप्त भाव दूसरों के सामने खोलने के लिये तत्पर हो जाता है। अपने मन की वेदना दूसरों से प्रकट करने से कम हो जाती है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की प्रबल असन्तोष की भावना रहती हैं। कुछ असन्तोष अपने ही प्रति होते हैं और कुछ दूसरों के प्रति। कुछ लोगों को आत्मग्लानि की भावना होती है, कुछ को अपने भाग्य के प्रति निराशा और कुछ को अपने सम्बन्धियों के व्यवहार से असन्तोष होता है। परन्तु वे इसे दूसरों से और अपने आप से ही छिपाने की चेष्टा करते हैं। जब ये बातें किसी सहानुभूत्यात्मक व्यक्ति से प्रकट की जाती है, तब मन की बहुत सी उलझनें सुलझ जाती हैं।

मानसिक रोगी प्रायः ऐसी समस्या में पड़ा रहता है जिसका सुलझाना उसके लिये अत्यन्त कठिन होता है। कभी-कभी ये समस्यायें उसकी वास्तविक समस्याओं का आरोपण मात्र होती हैं। उसकी व्यक्तिगत समस्या असन्तोष की रहती है। जब मनुष्य अपने जीवन की आशायें, आकांक्षायें और आदर्श बहुत ऊँचे बना लेता है और जब वह उनके प्राप्ति की आशा नहीं देखता, तो उसे किसी ऐसे बहाने की आवश्यकता होती है जिससे वह अपनी अयोग्यता

को छिपा सके। इस प्रसंग में विलियम बाऊन का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालव का एक विद्यार्थी किसी कारणवश पढ़ाई में पिछड़ने लगा। जब परीक्षा समीप आई तो उसे परीक्षा में फेल होने का भय होने लगा। इस विद्यार्थी को विश्वविद्यालय से एक छात्रवृत्ति भी मिलती थी। फेल हो जाने पर यह छात्रवृत्ति समाप्त हो जाती और फिर उसे अपने पिता का क्रोध सहना पड़ता। ऐसे अवसर पर वह आत्म-निर्देश का अभ्यास अच्छे नंबर पाने के लिये करने लगा। इसका एक विलक्षण परिणाम हुआ। एक दिन परीक्षा के समय वह बहुत रात तक जागा। देरतक जगते रहने के लिये उसे चाय बनानी पड़ी। जब वह स्टोप जला रहा था, उस समय स्टोप में अधिक गेस हो जाने के कारण वह फट पड़ा और उसका हाथ तेल की आग से जल गया। उसे अस्पताल भेजा गया और फिर वह परीक्षा में भाग न ले सका।

जिन बालकों की परीक्षा की तयारी कम होती है और अभिभावकों का अथवा समाज का डर अधिक होता है वे परीक्षा के समय ही बीमार हो जाते हैं। पटना विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी को इसी प्रकार परीक्षा के ठीक दो दिन पूर्व से बुखार आने लगा और परीक्षा होने तक वह बना रहा। वह पहले दो बार परीक्षा में फेल हो चुका था और अब भी पास होने की आशा नहीं थी। उसकी बीमारी ने उसकी लाज बचा ली। एक दूसरे नवयुवक को भारी सिरकी पीड़ा परीक्षाभवन में परीक्षा के पहले दिन ही हो गई और उसके कारण उसे वह परीक्षा छोड़नी पड़ी। दूसरे लोगों के देखने में उसकी तयारी अच्छी थी परन्तु स्वयं उसे आत्मविश्वास नहीं था।

अपने स्वजनों का ध्यान आकर्षण करने के लिये भी मनुष्य को कभी-कभी भयानक रोग हो जाते हैं। हमारा एक छात्र अपने आप में तपेदिक के रोग का सन्देह करता था। उसे खाँसी जुकाम और बुखार थे ही। इनकी जितनी ही चिकित्सा होती वे कम न हो बढ़ते ही थे। उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करने से पता चला कि वह अपने माता - पिता के व्यवहार से असन्तुष्ट था। वह पहले घर का लाड़ला लड़का था। बाद को उसके प्रति प्रेम में कमी हुई। तब से उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया और वह रोग का आवाहन करने लगा। एक दिन उसने लेखक को अचानक कह दिया 'मैं मरना चाहता हूँ, परन्तु इस प्रकार की बीमारी से कि मेरे माता-माता को देर तक भारी कष्ट हो' उसका रोग तबतक नहीं गया जब तक उसकी उक्त मनोवृत्ति को नहीं बदला गया।

बाल अपराध

आधुनिक युग की अनेक समस्याओं में बाल एवं युवा अपराधियोंकी समस्या एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसलिए अन्य समस्याओं के हल के साथ इस समस्या का हल होना भी आवश्यक है। पर बिना कारण समझे हल असम्भव सा प्रतीत होता है। अतः इन बाल अपराधियों की उत्तरोत्तर वृद्धि को रोकने के लिए इसका कारण जानना आवश्यक है। किन्तु कारण समझने के पहले यह देखना होगा कि अपराध क्या है, तथा ये बाल एवं युवा अपराधी किस प्रकार के अपराध करते हैं।

वह प्रवृत्ति जिसके कारण किशोरावस्था तक के बालक ऐसे कार्य करते हैं जो समाज एवं राज्य के नियमों के विरुद्ध हों और जिनको करने के फलस्वरूप उन्हें राज्य की ओर से कड़ा दण्ड दिया जाय अपराध है। बर्टका, जो कि बाल अपराधियों का एक बहुत बड़ा अध्ययनकर्ता है कहना है कि 'अपराध को मैं बच्चों में शैतानी करनेवाली स्वाभाविक आदत का एक विकसित, भयानक एवं अन्तिम सीमा पर पहुँचा हुआ रूप समझता हूँ।

बाल अपराधी अनेक प्रकार के अपराध करते हैं, जैसे चोरी करना, इधर उधर घूमना, किसी प्रकार की सम्पत्ति को जान बूझकर तोड़ना, झूठ बोलना, घर और स्कूल से भाग जाना, किसी पर हमला करना, नशा करना, गाली देना, अनुचित भाषा का प्रयोग करना एवं अपमान करना आदि।

पहले यह समझा जाता था कि अपराध की यह प्रवृत्ति अथवा- आदत जन्मजात है और कुछ विशेष प्रकार के शरीरवाले लोग ही अपराधी होते हैं। लोगों में यह धारणा थी कि आगे चलकर जो बालक अपराध में प्रवृत्त होते हैं उनमें बचपन से ही कुछ ऐसे लक्षण पाए जाते हैं जिनके द्वारा उनके आनेवाले भविष्य के विषय में कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है। वे बच्चे जो किशोरावस्था तक दूसरे के प्रति कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करते हैं उनके चरित्र का सन्तुलन ठीक नहीं रहता और वे आगे चल कर आसानी से अपराध करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस विशेष प्रकार के व्यवहार से युक्त बच्चे बहुत अधिक लालची, स्वास्थ्य ठीक रहते हुए भी हद से अधिक आलसी, स्वार्थी, बेहद अहँकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की कमी होती है। इस कारण वे किसी कार्यको करने की जिम्मेदारी नहीं उठाना

चाहते, विशेष कर ऐसे कार्यों की जिनसे उन्हें कुछ लाभ न हो। ये सब आदतें बालकों में जन्मजात समझी जाती थी। किन्तु आधुनिक युग में अपराधियों के जो अनेक दृष्टि से अध्ययन हुए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन अपराधों का कारण बच्चे के सामाजिक जीवन की कुछ परिस्थितियाँ हैं। बर्ट ने बाल अपराधियों का बहुत गहन अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि बालक का अपराधी होना सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है।

घर की परिस्थिति और वातावरण बालकों को अपराध की ओर प्रेरित करती है। बालक पर सबसे गहरा एवं व्यापक प्रभाव घर के परिजन ही डालते हैं। घर के स्वस्थ वातावरण में दोष आने के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें माता-पिता के व्यक्तित्व के साथ उनकी उपस्थिति भी है। माता अथवा पिता की मृत्यु हो जाना जान या अनजान में बच्चे के ऊपर गहरा प्रभाव डालता है। पिता के न रहने पर, दूसरों के व्यवहार तथा जीवन की आर्थिक कठिनाइयों के कारण बच्चे के मन में हीनता एवं विद्रोह की भावना जम जाती है। यह अचेतन क्रोध बड़े होने पर उस समाज के प्रति व्यक्त होता है जिसने बच्चे के साथ सहानुभूति नहीं दिखाई। माता अथवा पिता किसी के भी अभाव से बालक में हीनता तथा क्रोध की भावना बढ़ती है। क्योंकि बहुत छोटी अवस्था से ही वह समझने लगता है कि उसकी इस लज्जाजनक परिस्थिति का कारण उसके माता पिता स्वयं है।

माता पिता के असंतुलित व्यवहार के कारण भी बच्चा अपराधी बन जाता है। कहीं-कहीं एक ही परिवार में दो बच्चों के प्रति माता-पिता का पृथक् पृथक् व्यवहार रहता है। कहीं अत्यधिक स्नेह मिलता है तो कहीं अत्यधिक उदासीनता। माता-पिता से अधिक स्नेह पानेवाला बच्चा स्वेच्छाचारी बन जाता है। वह जो चाहता है करता है, अपनी ऐंठ में रहता है, दूसरी ओर उपेक्षित बालक में हीनत्व की ग्रन्थि पड़ जाती है और जब उसके आत्म-प्राधान्य को वृत्ति को घर में संतुष्ट होने का अवसर नहीं मिलता तो वह उसे अपने साथियों के गिरोह में असामाजिक योजनाएँ बनाकर व्यक्त करता है।

परिवार में नैतिक वातावरण के अभाव में भी बालक अपराधी हो जाता है। उसमें नैतिक भावना का विकास नहीं हो पाता और उस को प्रवृत्ति अनैतिक हो जाती है, जिससे बालक चोरी, डकैती, व्यभिचार आदि करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता।

बचपन में अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत ही तीव्र रूप में होती है बालक अथवा किशोर के संगी-साथी, जिनके संपर्क में वह अपना अधिकांश समय व्यतीत

करता है उसका व्यवहार जान अथवा अनजान में, इच्छा या अनिच्छा से उसके विचारों एवं कार्यों को प्रभावित करते हैं। इसलिए बालक अथवा किशोर को यदि ऐसे लोगों का साथ मिल जाता है जो अपराधी हैं या जो अपराधों को ही वीरता की सीमा मानते हैं तो वह बड़ी जल्दी उनसे प्रभावित हो जाता है।

बुद्धि की कमी, दरिद्रता और सामाजिक स्तर में बहुत नीचा होना भी इस प्रवृत्ति को जन्म देता है। बौद्धिक, सामाजिक अथवा आर्थिक, कमी बच्चे के मन में जिस हीनता की भावना को जन्म देती है उसका बच्चे के स्वाभाविक आत्मसम्मान से मेल नहीं बैठता और इसलिए उसमें एक ऐसा मानसिक संघर्ष उत्पन्न होता है जिससे छुटकारा पाने के लिए वह उस समाज को हानि पहुँचाता है जो उस मानसिक संघर्ष का कारण है।

बौद्धिक प्रखरता जिन बच्चों में अधिक मात्रा में होती है उनके अपराधी होने का कारण कुछ विशेष है। बौद्धिक क्षमता अधिक होने का अर्थ है मानसिक शक्ति का अधिक होना। साधारणतया स्कूल में शिक्षा देने के जो तरीके एवं पाठ्य क्रम है, और सामान्य घरों में उनकी इन मानसिक क्रियाओं का उपयोग करनेवाले जो साधन हैं वे प्रखरबुद्धि के बच्चे की पूरी शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते। इसलिए बहुधा वह ऐसे लोगों की संगति में पड़ जाता है जो उसे समाज को धोखा देने के लिए प्रेरित करते हैं।

इसके अतिरिक्त दबी हुई इच्छाएँ स्वयं ही अपराध है क्योंकि वे अपनी संतुष्टि के लिए ऐसे व्यवहारों में व्यक्त हो जाती है जो सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं है। दूसरों को शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट देकर आनन्द पाने की प्रवृत्ति भी अपराधों का कारण होती है।

अपराध की आदत बहुत कठोर और सहानुभूतिहीन सत्ता के विरुद्ध बचाव का साधन भी होती है। जब बालक के मन में सामाजिक न्याय के प्रति विश्वास उठ जाता है और उसे यह निश्चय हो जाता है कि बिना दूसरों से छीने उसे जीवित रहने के साधन नहीं मिल सकते, तो वह अपराधोंकी ओर बढ़ता है।

कुछ बालक जीवन की साधारण दिनचर्या से सन्तुष्ट नहीं रहते। उन्हें सदा ऐसे नए और रोमांचक कार्यों की खोज रहती है जिसका प्रभाव दूसरों पर पड़े। यही कार्य अपराध का रूप धारण कर लेते हैं। अपराध की प्रवृत्ति दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने और दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भी होती है। इस प्रवृत्ति का कारण बालक के चेतन या अचेतन मन में जमी हुई घृणा या प्रतिशोध की भावना है।

अपराध की उत्पत्ति मानसिक संघर्ष एवं असन्तुलन के फलस्वरूप भी

होती है। किशोरावस्था की विशेषताओं के कारण बालक में काम प्रवृत्ति के विकास के साथ ही साथ हीनता की भावना उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। कामसंबंधी भावनाओं एवं संवेदनाओं से छुटकारा पाने के लिए बच्चा या तो काम संबंधी अपराध करने लगता है या अन्य प्रकार के अपराधों में प्रवृत्त हो जाता है। स्कूल में अपने शिक्षक या साथियों के प्रति किसी प्रकार का असन्तोष, क्रोध या घृणा होने पर अकसर उसकी अभिव्यक्ति उन असामाजिक कार्यों में होती है जो कि अपराध कहलाते हैं।

शारीरिक विकार भी अपराधी व्यवहार का कारण बनते हैं। एक बालक अपनी श्रेणी के अध्यापक से भी शरीर में बड़ा था। सब लोग उस पर हँसते थे। इससे वह घर से भाग गया। एक बच्चे की आँखें कमजोर थी। उसने दूसरे बच्चों की ऐनके चुरानी शुरू कर दी। आँखें कमजोर होने के कारण वह कक्षा में पीछे था। प्रतिस्पर्धा की भावना ने पढ़ाई में तेज होने के स्थान पर ऐनक चुराने का रूप धारण कर लिया।

अपराध के इन विभिन्न कारणों के ज्ञान के फलस्वरूप शिक्षा-संस्थाएँ और सरकार बाल अपराधियों को दण्ड देने के अलावा ऐसे उपायों का अवलम्बन करते हैं जो उनके व्यवहार को सुधार सकें। सामाजिक असमानता का, जो प्रायः अपराधी व्यवहार का कारण होता है, हट जाना जरूरी है।

जो बच्चे परिवार में स्नेह की कमी और मानसिक शक्तियों के उचित् उपयोग न होने, घृणा, बुरी संगति का प्रभाव आदि कारणों से अपराधी होते हैं उनको सुधारने का कार्य किशोरावस्था तक ही किया जा सकता है।

माता पिता बच्चे की रुचि के अनुसार उचित वातावरण की सृष्टि करके, बच्चों के साथ मित्रता का भाव रख के, उनके चरित्र का नैतिक विकास करके, उन्हें समाज विरुद्ध कार्य करने से रोक सकते हैं। अपराध की प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपराधों की प्रवृत्ति पर नहीं किन्तु अपराध की ओर प्रेरित करनेवाले उपायों पर अधिकार करना चाहिए। —आशा कपूर, बी० ए० बी० एड०

बालक में धूम्रपान की आदत

बालक सिगरेट और बीड़ी का प्रयोग कब से और क्यों करने लगता है, यह समस्या काफी जटिल है। उसका मुख्य कारण बालकों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति को माना जा सकता है। बालक जन्म से ही अनुकरणशील होता है। उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि कौन सा अनुकरण अच्छा है और कौन सा बुरा। वह स्वाभाविक रूप से अनुकरण करता है। समाज में बीड़ी-सिगरेट की परम्परा फैशन के साथ-साथ लोकाचार का भी रूप धारण कर चुकी है। इसलिये अनेक परिवारों में प्रौढ़ लोग इसका सेवन करते हैं। बालक भी अपनी जिज्ञासा तथा अनुकरण की प्रवृत्ति को रोक नहीं सकते और वे भी बीड़ी-सिगरेट पीना शुरू कर देते हैं। शिक्षित परिवारों में तो ऐसे अनुकरण को बुरा समझा जाता है परन्तु निर्धन लोग इसे बुरा नहीं समझते। इसलिये मजदूर वर्ग तथा पिछड़ी जातियों में यह निन्दनीय आदत नहीं समझी जाती। वहाँ सभी बालक बीड़ी-सिगरेट का सेवन खुलेआम करते हैं।

बालकों में बीड़ी पीने का दूसरा कारण हीनता की ग्रन्थि है। यह हीनता की ग्रंथि बालक में कई कारणों से निर्मित हो जाती है। शारीरिक त्रुटि उनमें से एक है। कभी कभी बालकों को इतना अधिक पीटा जाता है कि उनमें हीनता की ग्रन्थि पड़ जाती है। इसके कारण बालक का अचेतन मन कुछ ऐसा कार्य करना चाहता है जिसमें उसको सन्तोष हो और इस प्रकार बीड़ी या सिगरेट पीकर बालक अपने में ही सन्तोष कर लेता है। बीड़ी पीने की आदत को छुड़ाने के लिये बालक के प्रति जितना ही कठोर व्यवहार किया जाता है वह उसमें उतनी अधिक जटिल होती जाती है।

इतना ही नहीं जिन बालकों के जीवन में असन्तोष रहता है, भले ही वह असन्तोष आर्थिक, सामाजिक या शिक्षा-सम्बन्धी हो, इस कारण भी उनमें बीड़ी या सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। स्नेह के अभाव के कारण, जैसे किसी बालक की सौतेली माँ हो, बालक धूम्रपान करने लगता है। कभी-कभी बालक का पिता अपने बालक की ओर पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दे पाता। ऐसी हालत में बालक के मन में पिता के प्रति क्रोध की भावना जाग्रित हो जाती है तथा वह बीड़ी सिगरेट पीने की आदत डालकर उस भावना से मुक्ति पाना चाहता है।

कभी-कभी बालक मानसिक बेचैनी का अनुभव करता है। तब भी वह बीड़ी सिगरेट पीने की ओर अग्रसर होता है। ऐसी मानसिक बेचैनी अनैतिक कार्यों के करने के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाती है। जब किसी बालक के घर का वाता-

वरण बड़ा ही नैतिक रहता है तथा बालक को जन्म से ही नैतिकता की शिक्षा दी जाती है और जब बालक कुसंगति में पड़कर मूल प्रवृत्तियों की प्रेरणा से अनैतिक कार्य करता है, तो उसके अचेतन मन में द्वन्द शुरू हो जाता है। इस द्वन्द से छुटकारा पाने के लिये वह बीड़ी या सिगरेट पीना शुरू कर देता है।

कभी-कभी बालक के जीवन में ऐसी-ऐसी घटनायें घटित हो जाती हैं जिनकी स्मृति उसे शाप तुल्य प्रतीत होती है। जैसे बालक की माँ या पिता की मृत्यु अथवा परिस्थितिवश कोई बुरा काम कर बैठना जिससे समाज का अकल्याण होने की सम्भावना हो, तब भी वह धूम्रपान करने लगता है।

कोई भी बालक यह भलीभाँति जानता है कि चोरी करना बुरा है और यही नैतिक पाठ उसके घर में रोज पढ़ाया जाता है, फिर भी किसी कारण वश यदि वह चोरी करता है तो उसका सांस्कृतिक मन उसे धिक्कारता है। वह चोरी की प्रेरणा को ही पाप समझने लगता है। इस पाप भावना से छुटकारा पाने के लिये बालक बीड़ी सिगरेट पीना शुरू कर देता है। महात्मा टालस्टाय के मतानुसार पाप भावना से छुटकारा पाने के लिये लोग सिगरेट बीड़ी पीना शुरू करते हैं। यही प्रवृत्ति बालकों में भी होती है। वे अपनी पाप भावना से छुटकारा पाने के लिये सिगरेट बीड़ी पीना शुरू करते हैं।

चोर चोरी करने से पहले भी बीड़ी सिगरेट पीता है। उसका चोरी से पहले का सिगरेट पीना तो उसके लिये शैथिलीकरण का द्योतक है, क्योंकि वह उस समय सारी दुनियाँ की बात छोड़कर अपनी योजना बनाने के लिये शैथिलीकरण की आवश्यकता का अनुभव करता है और यह शैथिलीकरण वह बीड़ी या सिगरेट पीकर ही लानेमें सफल होता है चोरी के बाद तो वह पाप की भावना को भूलने के लिये सिगरेट पीता है। ठीक इसी प्रकार बालकों में भी होता है। किसी पापयुक्त योजना को वास्तविक रूप देने के लिये वह भी बीड़ी सिगरेट का सेवन करता है।

आज कल घर से काफी दूर पर स्कूलों के होने के कारण बालकों को घर से जल्दी चल भी देना पड़ता है तथा लौटते समय भी वे लोग घर पर देर से आते हैं। आज की आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे लोग फल-फूल तो क्या कुछ और प्रकार का जलपान भी नहीं कर पाते हैं। सुबह से शाम तक लगातार अभ्यास में हो बैठने के कारण शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार की थकान का वे अनुभव करते हैं। फलतः इस थकान को दूर करने के लिये बीड़ी सिगरेट बहुत मददगार साबित होती है। थोड़े पैसे से ही एक प्रकार की स्फूर्ति बीड़ी पी लेने से आ जाती है।

—उमा मुखर्जी, एम० ए० बी० एड०

मनुष्य की भावनाओं का शरीर पर प्रभाव

मन और शरीर का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार के शारीरिक परिवर्तन मनको प्रभावित करते हैं। जब मनुष्य को चोट लग जाती है, उसे बुखार आ जाता है, जब वह भूखा अथवा प्यासा रहता है, तब उसके मन की दशा ठीक नहीं रहती। इसी तरह जब मनुष्य का मन ठीक नहीं रहता, तब उसकी शरीर की अवस्था भी ठीक नहीं रहती। जो मनुष्य अपने भीतरी मन से असन्तुष्ट रहते हैं, जो अपने आपको अपने जीवन में किसी प्रकार से असफल समझते हैं, वे किसी-न-किसी जटिल रोग का आवाहन करते रहते हैं और फिर उन्हें कोई-न-कोई जटिल रोग पकड़ लेता है। यह रोग रोगी मनुष्य को तबतक नहीं छोड़ता, चाहे उसकी चिकित्सा कितनी ही क्यों न की जाय, जब तक रोगी का मन सुखी और स्वस्थ नहीं बन जाता।

आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य की भावनाओं और आवेगों का उसके शरीर पर किस तरह प्रभाव पड़ता है, प्रयोगात्मक ढंग से खोजा है। जब किसी व्यक्ति को जंगली जानवर का सामना करना पड़ता है, तब उसको शरीर में बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। बाहर से देखने में उसके चेहरे पर पीलापन दिखाई देगा, स्वांस जल्दी-जल्दी चलती हुई मालूम होगी और वह भागने की मुद्रा में दिखाई पड़ेगा। यदि हम उसके शरीर के भीतर होनेवाले परिवर्तन को जानें, तो हमें पता चलेगा कि ऐसी अवस्था में उसके शरीर के भीतर रस उत्पादन करनेवाली ग्रन्थियाँ ऐसे रस का उत्पादन करने लगती है जिससे शरीर में अधिक शक्ति आ जावे, ताकि मनुष्य अपनी जान बचाने के लिये तेजी से भाग जावे। रक्त का प्रवाह भी तेजी से होने लगता है तथा रक्त में श्वेत अणुओं की संख्या बढ़ जाती है, ताकि मनुष्य आनेवाले भय का सामना कर सके।

जब किसी मनुष्य को किसी विशेष प्रकार का अवांछनीय मनोभाव बार-बार आता है, तब उसके शरीर में अनेक प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। भय और क्रोध से मनुष्य की पाचनशक्ति बिगड़ जाती है। जब हम भोजन करते हैं, तब खाते समय हमारे मुँह से जो लार निकलती है वह भोजन को पचाने में सहायता करती है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही प्रसन्नता के साथ धीरे-धीरे चबाकर स्वाद के साथ अपना भोजन करता है, उसका भोजन उसके लिये उतना ही लाभकारी होता है। क्रोध और भय के भाव हमारे गले

में स्थित प्राणप्रद रस को पैदा करनेवाली गिल्टियों के कार्य को शिथिल कर देते हैं। इससे इन रसों के उत्पादन का काम कम हो जाता है। जब इस रस की शरीर में विशेष कमी होती है, तब मनुष्य के शरीर की बाढ़ ही रुक जाती है। यही कारण है कि जो बच्चा बाल्यकाल से ही भय के वातावरण में रहता है अथवा जिसका स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाता है, वह शरीर में दुबला-पतला ही रह जाता है। हम बच्चे को चाहे जितना खिलायें-पिलायें परन्तु यदि उसे प्रसन्नता के वातावरण में न रखें, तो वह कभी भी हट्टा-कट्टा और तगड़ा न होगा।

आधुनिक युग की खोजों से पता चला है कि मनुष्य के बहुत से रोग, जैसे पेट के फोड़े, बदहजमी, हृदय के रोग, दमा इन सभी के कारण मानसिक होते हैं। पेट के फोड़े और पेट के घाव असाध्य मानसिक रोग माने गये हैं। इन रोगों की चिकित्सा करने में प्रायः डाक्टर लोग असफल हो जाते हैं। पेट के फोड़े अथवा घाव होने का कारण उस नमक अथवा तेजाब का अत्यधिक बढ़ जाना होता है, जो हमारे भोजन को पेट में जाने पर पचाता है। जो तेजाब सीमित मात्रा में रहने पर हमारे जीवन में सहायक होता है, वही अधिक बढ़ जाने पर हमारी मौत का कारण बन जाता है। यह तेजाब प्रबल आवेगों के अनुभव होने पर अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है और जब मनुष्य शान्त मन रहता है तब उसकी उत्पत्ति कम हो जाती है। पेट का रोग ऐसे लोगों को अधिक होता है, जो ऊपर से तो शान्त मन रहते हैं परन्तु भीतर से छोटी-छोटी बातों के लिये अपने को या दूसरों को कोसते रहते हैं। पेट के रोगियों का बचपन से ही व्यक्तित्व अधूरा बना रहता है। उन्हें माता-पिता का पर्याप्त प्रेम नहीं मिला रहता। इसी कारण उन्हें अधिक कष्ट का अनुभव होता है और जब वे उसका दमन करते हैं, तब उन्हें पेट का रोग या फोड़े हो जाते हैं।

कुपच के रोगी के मन में आत्महीनता की भावना रहती है। वह किसी-न-किसी कारण के लिये अपने आपको कोसता रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने रोग का बखान दूसरों से बड़ी देर तक करता है। इस प्रकार वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। ऐसे व्यक्ति के आन्तरिक मन में सदा बेचैनी बनी रहती है। इस रोग का एक कारण अनेक अप्रिय भावों को अपने पेट में छिपा के रखना होता है।

हृदय पर प्रत्येक प्रकार की भावनाओं का प्रभाव पड़ता है, परन्तु हृदय का विशेष संबंध मनुष्य के प्रेम-भाव अथवा कामवासना से है। प्रेम और काम एक दूसरे के सहगामी है। अतएव जब इनका दमन किसी व्यक्ति के जीवन में

होता है, तो ऐसे व्यक्ति को हृदय का रोग हो जाता है। कितने ही लोग किसी व्यक्ति को हृदय से प्यार करते हैं, परन्तु वे उस प्यार को अभिमान बस अथवा अपनी सांस्कृतिक संस्कारों के कारण स्वीकार नहीं करना चाहते। ऐसी अवस्था में उन्हें हृदय का रोग हो जाता है। जब कोई नवयुवक एक स्त्री से प्रेम करे और उसके अभिभावक उसकी शादी किसी दूसरे से करें, तो उसे हृदय-रोग होने की संभावना रहती है। कुछ लोग अपनी पत्नी के विषय में व्यभिचार का सन्देह मन में लाकर उसे तलाक दे देते हैं, परन्तु वे उसे अचेतन मन से प्यार ही करते रहते हैं। वे इस प्यार को स्वीकार नहीं करना चाहते; ऐसे लोगों को हृदय का रोग हो जाता है।

हृदय का रोग दो प्रकार का होता है, शारीरिक और मानसिक। पहले प्रकार के रोगों को आर्गनिक और दूसरों को फंक्सनल कहा जाता है। पहले प्रकार का हृदय का रोगी तो वास्तव में हृदय का रोगी होता है, परन्तु दूसरे प्रकार के हृदय के रोगी का रोग कल्पित होता है। दोनों प्रकार के रोगी एक-से ही रोग के दुःख का अनुभव करते हैं। ऐसे रोगी न तो ठीक से चल फिर सकते हैं और न बातचीत ही कर सकते हैं। खाने-पीने में कमी उन्हें अपने आप ही करनी पड़ती है। देखा गया है कि वास्तविक अर्थात् सारीरिक हृदय के रोगी की अपेक्षा काल्पनिक हृदय का रोगी अधिक बेचैन रहता है।

डाइविटीज भी एक असाध्य मानसिक रोग माना गया है। जिस व्यक्ति को एक बार यह रोग पकड़ लेता है, वह कभी भी पूर्ण स्वस्थ्य नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि ऐसे रोगी को न केवल शारीरिक चिकित्सा की आवश्यकता है, वरन् उसे मानसिक चिकित्सा की भी आवश्यकता है। यह रोग बच्चे को अधिक लाड़-प्यार में रखने से होता है। बच्चे के प्रति अत्यधिक लाड़ दिखाना, उसके प्रति अत्यधिक चिन्तित रहना उसके व्यक्तित्व के प्रति भारी अन्याय है। ऐसा बालक आगे चलकर अनेक प्रकार के कल्पित और वास्तविक रोगों का शिकार बनता है। वह चाहता है कि सब लोग उसी के काम से आकर्षित हों और जब वह स्वजनों के ध्यान को आकर्षित करने में सफल नहीं होता, तो मृत्यु का आवाहन करने लगता है। वास्तव में बच्चे के प्रति अत्यधिक चिन्तित रहना, उसे अधिक लाड़ दिखाना, बच्चे के प्रति प्रेम प्रदर्शन का प्रतीक नहीं है, वरन् भीतरी मन की घृणा का द्योतक है। यह एक प्रकार की अतिपूर्तिकरण की क्रिया है, जिसके द्वारा हम अपने आपको और दूसरों को धोखे में डालने की चेष्टा करते हैं।

दमा का रोग रोगी के आन्तरिक मन में उपस्थित निराशा का प्रतीक है। जिस बालक को बचपन से ही अपने स्वजनों का प्यार नहीं मिलता, उसमें इस रोग को अपना लेने की पहले से ही प्रवृत्ति रहती है। माता-पिता की इच्छा न रहते हुए जो बालक जन्म लेते हैं, उनमें इस रोग की प्रवृत्ति रहती है। जब प्रौढ़ावस्था में ऐसे व्यक्तियों को निराशा के वातावरण में पड़ जाना पड़ता है, तब उन्हें दमा का रोग हो जाता है। पुरुषों को यह रोग सामाजिक सन्मान पाने में असफलता अथवा व्यापार में असफलता होने पर बढ़ जाता है और स्त्रियों में पति-स्नेह में सन्देह होने पर यह उत्पन्न होता है। जब मनुष्य की परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, तो यह रोग अपने आप ही धीरे-धीरे शान्त होता है। बहुत से दमा के रोगियों का रोग मनोविश्लेषण चिकित्सा पद्धति के द्वारा समाप्त किया गया है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये अपने मनोभावों को सुन्दर और स्वास्थ्य बनाये रखने की कितनी अधिक आवश्यकता है। जो लोग सदा आशावादी और प्रसन्न मन रहते हैं, और जो अपने प्रतिदिन के कामों में पूरे मन से लगे रहते हैं, उन्हें ऐसे सैकड़ों रोग नहीं होते जो अवांछनीय भावों का बार-बार अनुभव करनेवाले लोगों को होते हैं।

—प्रो० सुधांशु कुमार दीक्षित, काशी विश्वविद्यालय



मनुष्य को जीवन में निराशा क्यों आती है ?

आज हमारे पास कालेज का एक नवयुवक अपनी कुछ मनोवेदना लेकर आया। यह देखने में बड़ा ही सुशील, त्यागी और धैर्यवान व्यक्ति है। इस समय यह समाज सेवा की एक विशेप प्रकार की ट्रेनिंग ले रहा है। इसे शिक्षा अच्छी मिली और यह विचारवान् व्यक्ति है। जब एकान्त में जाकर हमने उसकी व्याधि पूछी, तो उसने कहा कि मुझे अपना जीवन मूल्य-हीन दिखाई देता है। मैं सभी कामों को मशीन के समान करता हूँ, परन्तु मैं यह नहीं जानता कि इन्हें क्यों किया जाय। उसने कहा कि मैं घर का अकेला ही लड़का हूँ, न मेरे भाई हैं, न बहन, अतएव मेरे माता-पिता सब मुझ पर ही आश्रित हैं। यदि ऐसा न होता, तो मैं घर की सब उलझनों को छोड़ करके, कहीं दूर ही चला जाता।

इस युवक से उसकी जीवन-संबंधी बातचीत से पता चला कि वह पढ़ने-लिखने में अच्छा विद्यार्थी रहा है। जब वह सातवीं कक्षा में था, तभी उसके दादा ने आग्रहपूर्वक उसका विवाह कर दिया। उस समय यह किशोर बालक था और विवाह नहीं करना चाहता था। यह देखने में सुन्दर है, परन्तु जिस लड़की से उसका विवाह हुआ वह न तो देखने में सुन्दर थी और न पढ़ी लिखी। विवाह के एक साल बाद लड़के का गौना हुआ तब से उसकी स्त्री घर से बाहर गई ही नहीं। यह युवक पाँच वर्ष तक उससे बोला नहीं। पीछे समाज और संगी-साथियों के आग्रह से उसने अपनी स्त्री से बोलना प्रारम्भ किया, परन्तु विवाह के दिन से वह अब तक अपने में सूनेपन का अनुभव करने लगा है। एक बार उसे बुखार हुआ, जब उसका बुखार अच्छा हो गया था, तब भी वह सोचा करता था कि उसे बुखार लगा ही है। इस तरह वह कई दिनों तक दवा लेते रहा। उसका बुखार तो बाद में जाता रहा, परन्तु उसका सन्देह उसे बना ही रहा। थर्मामीटर से देखने पर जब ९८° ताप दिखाई देता था, तब भी उसके मन में विचार आता था कि उसे बुखार आता था। एक समय वह कल्पना करने लगा कि उसे टी० बी० हो गया है। यह कल्पना अब जाती रही, परन्तु उसे कुछ-न-कुछ रोग की कल्पना बनी ही रहती है।

उसने बताया कि जब वह किशोर बालक था तब उसके बड़े-बड़े हौसले थे, परन्तु जब वह कालेज पहुँचा, उसके सभी हौसले मर चुके थे और अब, जब कि वह स्नातक हो चुका है, विना उत्साह के वह जीवन व्यतीत कर रहा है। वह

कभी भी आरोग्य का अनुभव नहीं करता। उस युवक को एक लड़का हो चुका है और अपनी स्त्री को छोड़ने का विचार वह मन में नहीं लाता। इसे वह नैतिकता के प्रतिकूल समझता है।

कल एक दूसरा नवयुवक भी ठीक इसी प्रकार की व्याधि लेकर हमारे पास आया था। यह रेलवे के दफ्तर का क्लर्क है। इसे एक बार इतना अधिक शारीरिक रोग हो गया था कि उसका चलना-फिरना भी कठिन हो गया था। इस क्षीणकाय की अवस्था में उसने प्राकृतिक चिकित्सा की शरण ली। जब दूसरी चिकित्साओं से उसे लाभ न हुआ, उसे प्राकृतिक चिकित्सा से शारीरिक लाभ अवश्य हुआ, परन्तु उसका मानसिक असन्तोष बना ही था। इस युवक से बातचीत करते-करते पता चला कि वह अपनी स्त्री के सतीत्व पर विश्वास नहीं करता। वह सदैव यही सोचते रहता है कि उसकी स्त्री किसी दूसरे ही व्यक्ति को प्यार करती है। ऐसे तो उसकी स्त्री इस युवक के माता-पिता के संरक्षण में रहती है, तिस पर भी उसका सन्देह नहीं जाता है। उसे कोई बच्चा नहीं है।

एक तीसरा नवयुवक अपनी स्त्री से इसलिये असन्तुष्ट है कि वह इतनी रूपवान नहीं है जितनी रूपवान उसकी पत्नीको होना चाहिये था। वह स्त्री उसके माँ का कहना भी नहीं मानती। अतएव उसे उसके मायके भेज दिया गया। वह एक साल से वहीं पर है। उसे एक बच्चा भी है। इस युवक का मन अपने रोजगार में नहीं लगता। वह घर छोड़कर कहीं दूर ही रहना पसन्द करता है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में हम देखते हैं कि जब मनुष्य का भीतरी मन असन्तुष्ट रहता है, तब बाहर भी उसे निराशा ही दिखाई देती है। भीतरी मन के असन्तोष का प्रधान कारण किसी प्रबल इच्छा का सन्तुष्ट न होना होता है। इन इच्छाओं में प्रधान इच्छा दाम्पत्य-स्नेह की होती है।

पुराने समय में मनुष्य को जब लौकिक जीवन में सफलता नहीं मिलती थी, अर्थात् जब वह न रूपवान, सुशील पत्नी पाता था और न धन संपति, तब वह धार्मिक साधनों में अपने मन को लगाता था। आज नवयुवकों के लिये यह दरवाजा भी नहीं खुला है। आज कल की शिक्षा धर्मचर्चाओं को यदि मनुष्य के लिये हानिकारक नहीं तो व्यर्थ अवश्य मानी जाती है। यही कारण है कि हमारे देश में नवयुवकों में जितना निराशा का वातावरण है, संभवतः उतना पश्चिमी देशों में नहीं है। उन देशों में उतनी अधिक बेरोजगारी नहीं है जितनी हमारे देश में है। हमारे यहाँ स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् यह बेरोजगारी यदि बढ़ी नहीं है, तो जैसी-की-तैसी बनी रह गई। फिर हमारी पुरानी रूढ़ियाँ आज पारिवारिक जीवन को दुःखी ही बनाती हैं। अतएव यदि भारतवर्ष

आत्मसंतोष के पुराने मार्ग को फिर से नहीं अपनाता, तो हमारे देश में मानसिक रोगियों और निराशावादियों की संख्या इतनी अधिक बढ़ जायगी कि यह समाज के सामने उग्र रूप धारण कर लेगी। इसके कारण अनेक प्रकार के अपराधों की भी संख्या बढ़ेगी। जिन बालकों के बचपन की प्रेम की भूख अतृप्त रह जाती है, उन्हें दाम्पत्य स्नेह पाने की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है और जब उन्हें युवावस्था में यह प्राप्त नहीं होता, तब वे जीवन से ही निराश हो जाते हैं। जिन बालकों को माता-पिता का पर्याप्त स्नेह मिलता है, उनका व्यक्तित्व समुचित रूप से विकसित होता है। वे पत्नी-स्नेह के इतने लालायित भी नहीं रहते। ऐसे लोग रूपवान्, शीलवान् अथवा विद्वान स्त्री न मिलने पर दुःखी भी इतने अधिक नहीं होते कि जीवन से ही निराश हो जायँ। उन्हें जैसा भी जीवन साथी मिल जाय, उससे वे सन्तुष्ट रहते हैं।

जिन बालकों का जीवन लाड़-प्यार में बीता है, जिन्होंने बचपन में संयम का महत्व ही नहीं समझा, वे भी युवावस्था होने पर अपना जीवन प्रायः निराशा में ही व्यतीत करते हैं। ऐसे लोगों की आकांक्षायें और अभिलाषायें अत्यधिक बढ़ जाती है और जब वे इनकी संतुष्टि का कोई मार्ग नहीं देखते, तब वे मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं। बचपन का समय बड़ा मूल्यवान है। यही चरित्र का निर्माता होता है। समाज के भय के कारण जिस व्यक्ति को अपने पर संयम करना पड़ता है, वह अपने ऊपर झूठा संयम लादता है। ऐसे व्यक्ति का आंतरिक असंयत मन उसे जीवन से निराश बना देता है। लदा हुआ संयम और शील मनुष्य के दुःखों की ही वृद्धि करता है।

धर्म की मान्यताओं में कुछ अंधविश्वास अवश्य रहता है, परन्तु यह मनुष्य को अन्ततोगत्वा संयम की ओर ही ले जाती है। यही कारण है कि संसार के सर्वोच्च मनोवैज्ञानिकों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है कि कोई भी मनुष्य तब तक पूर्णतः स्वस्थ्य नहीं होता, जब तक वह किसी सच्चे धर्म को नहीं अपनाता और जिस व्यक्ति को सच्चा धर्म है, वह मानसिक रोगी होता ही नहीं। एक कुशल मानसिक चिकित्सक का तो यहाँ तक कहना है कि संसार का फूहर-से-फूहर धर्म संसार के सभी कुशल मानसिक चिकित्सकों की अपेक्षा अधिक मानसिक रोगियों की सफल चिकित्सा करता है।

—संपादक

T	W	TH	F	ST	S	M	T	W	TH
				1	2	3	4	5	6
11	12	13	14	15	16	17	18	19	20
25	26	27	28	29					